तृतीयावृत्ति

१९९६ वि०

मूल्य १॥)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

बक-संहार

श्रीगणेशायनमः

वक-संहार

[१]

सञ्चित किये रक्खे हुए,
शुक-वृन्द के चक्खे हुए,
कुछ फल कि जो थे दीन शवरी के दिये;
खाकर जिन्होने प्रीति से,
शुभ मुक्ति दी भव-भीति से,
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये।

[२]

आतिथ्य और अतिथि-कथा,
तेरी पुरानी वह प्रथा,
प्राचीन भारत, आज भी सु-नवीन है।
अब अतिथि भिक्षुक मात्र हैं,
अधिकांश अज्ञ अपात्र हैं;
भिक्षा बना व्यवसाय, तू भी दीन है।

[३]

हे देश होकर भी गृही,
तू था न यों स्वार्थ-स्पृही।
वह धर्म की ध्रुवता कहाँ तेरी बता?
अब भूत चाहे भूत है,
पर वह बड़ा ही पूत है।
इतिहास देता है हमें उसका पता।

[४]

वह विप्र का परिवार था;
शुचि लिप्त घर का द्वार था;
पूजा प्रसूनाकीर्ण थी दृढ़ देहली।
आगत अतिथियों के लिए,
शीतल पवन सुरभित किए,
मानों प्रथम ही थी पड़ी पुष्पाञ्जली।

[५]

ऊपर लिखा ओङ्कार था,
फिर बद्ध वन्दनवार था;
शोभित वहाँ पर शान्त संध्यालोक था।
भीतर अजिर चौकोर था;
दालान चारों ओर था;
सारांश एक गृहस्थ का वह ओक था।

[६]

द्विज वर्य विघ्नों से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द संध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा।

[७]

था पास ही तुलसीघरा,
जो वायु-शोधक था हरा;
सुमुखी सुता थी दीप उस पर धर रही।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बड़ी,
कैसे कहें, किस भाव से थी भर रही।

[८]

थी शान्ति पूरे तौर से,
ध्वनि सुन पड़ी तब पौर से,—
"गृहनाथ हैं ? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।"
झट ब्राह्मणी चौंकी, चली,
कह कर मधुर वचनावली,—
"आओ, अहा ! हम सब विशेष सनाथ हैं।"

[९]

सचमुच सनाथ हुए सभी,
ऐसे मनुज देखे कभी !
कुन्ती सहित पाण्डव अतिथि थे वे नये।
लाक्षाभवन के साथ ही,
आशा जला कुरुनाथ की,
इस एकचक्रा नगर में थे आगये।

[६]

द्विज वर्य विघ्नों से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द संध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा।

[७]

था पास ही तुलसीघरा,
जो वायु-शोधक था हरा;
सुमुखी सुता थी दीप उस पर धर रही।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बड़ी,
कैसे कहें, किस भाव से थी भर रही।

[८]

थी शान्ति पूरे तौर से,
ध्वनि सुन पड़ी तब पौर से,—
"गृहनाथ हैं ? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।"
झट ब्राह्मणी चौकी, चली;
कह कर मधुर वचनावली,—
"आओ, अहा ! हम सब विशेष सनाथ हैं।"

[९]

सचमुच सनाथ हुए सभी,
ऐसे मनुज देखे कभी !
कुन्ती सहित पाण्डव अतिथि थे वे नये।
लाक्षाभवन के साथ ही,
आशा जला कुरुनाथ की,
इस एकचक्रा नगर में थे आगये।

[१०]

सबने उचित स्वागत किया,
सुख से उन्हें आश्रय दिया;
मृग-चर्म-धारी ब्रह्मचारी पाण्डुसुत
थे शास्त्र अब भी सीखते,
माँ-युक्त थे यों दीखते,—
प्रत्यक्ष मानों पञ्च मख थे, पूर्ति युत!

[११]

रुचिकर वहाँ का वास था,
आदेश भी था व्यास का;
इससे वहीं रहने लगे वे प्रीति से।
भिक्षान्न ले आते स्वयं,
माँ को खिला खाते स्वयं;
फिर द्विज निकट अभ्यास करते रीति से।

[१२]

द्विज और भी हर्षित हुआ,
उन पर समाकर्षित हुआ;
शास्त्राब्धि मन्थन अमृत-हित होने लगा।
विष-विघ्न भी जाता कहाँ,
वक रूप में निकला वहाँ;
वह धैर्य विप्र-कुटुम्ब का खोने लगा।

[१३]

जिसमें न हो सबका निधन,
प्रति दिन पुरी से एक जन,
उपहार था उस दैत्य को जाता दिया।
अब विप्र को बारी पड़ी,
कैसी कठिन थी वह घड़ी,
भय-शोक से फटने लगा सबका हिया।

[१४]

माँ - बेटियाँ रोने लगीं,
अति कातरा होने लगीं।
सुत-युक्त ज्ञानी द्विज सहज गम्भीर था।
पर मृत्यु का संवाद था,
मुख पर विशेष विषाद था;
बस, एक के हित अन्य आज अधीर था।

[१५]

कुछ देर सन्नाटा रहा,
तब शान्ति से द्विज ने कहा,—
"सम्पूर्ण जीवन सौख्य मैं हूँ पा चुका।
भागी हुआ भव-भाग का,
अब तृप्त हूँ, गृह-त्याग का
मेरे लिए उपयुक्त अवसर आ चुका।

[१६]

निश्चिन्त हो घर-वार से,
बन कर विरत, संसार से,
सम्बन्ध अपना आप ही मै तोड़ता।
फिर आत्म-चिन्तन-लीन हो,
दृढ़ योग - मुद्रासीन हो,
मै यह विनश्वर देह यों ही छोड़ता।

[१७]

अब काम यह भी आयगी,
निज को सफल कर जायगी।
मैं आज जाऊँगा स्वयं वक के निकट।
तुम लोग शोक करो न यो;
मत हो अधीर डरो न यो;
जब प्राकृतिक है तब मरण कैसा विकट?

[२२]

[illegible], मर कर भी अभी,
[illegible] हो नहीं सकते कभी;
[illegible] इन अनाथों की सदा।
[illegible] नहीं सकता हरण
[illegible] मेरा मरण;
[illegible] कुल की आपदा।

[illegible]

सुत
बस;
"सम्पूर
भ
आ
मेरे लिए

[२४]

अबला जनों की एक दिन
है लाज रहनी भी कठिन,
जिनके लिए पर पुरुष-मय संसार है।
यदि वे अनाथा हों यहाँ,
तो फिर कुशल उनकी कहाँ ?
प्रत्येक पद पर विपद - पारावार है।

[२५]

कुछ काम सङ्कट में सरे,
इस हेतु धन-रक्षा करे,
दारादि की रक्षा करे धन से सदा,
आचार यह अति शिष्ट है,
पर, आत्मरक्षा इष्ट है;
धन से तथा दारादि से भी सर्वदा।

[२२]

निश्चिन्त, मर कर भी अभी,
तुम हो नहीं सकते कभी;
चिन्ता रहेगी हम अनाथों की सदा।
पर कर नहीं सकता हरण
गृह-शान्ति यह मेरा मरण;
कारण कि होगी दूर कुल की आपदा।

[२३]

ज्यों ज्यों समय है जा रहा,
गुरु-भार सिर पर आ रहा,
सुत की सुशिक्षा का, सुता के व्याह का।
कैसे करूँगी सिर पड़े
ये कार्य्य मैं दो दो बड़े?
क्या यत्न होगा लोक में निर्वाह का?

[२४]

अबला जनों की एक दिन
है लाज रहनी भी कठिन,
जिनके लिए पर पुरुष-मय संसार है।
यदि वे अनाथा हों यहाँ,
तो फिर कुशल उनकी कहाँ ?
प्रत्येक पद पर विपद - पारावार है।

[२५]

कुछ काम सङ्कट में सरे,
इस हेतु धन-रक्षा करे,
दारादि की रक्षा करे धन से सदा,
आचार यह अति शिष्ट है,
पर, आत्मरक्षा इष्ट है;
धन से तथा दारादि से भी सर्वदा।

[२६]

मैं सुत-सुता भी जन चुकी,
कुल-वर्धिनी हूँ बन चुकी।
मेरे बिना अब हानि क्या संसार की ?
इस हेतु जाने दो मुझे,
यह पुण्य पाने दो मुझे,—
जिससे कि रक्षा हो सके परिवार की।

[२७]

मैं एक तुममें रत यथा,
तुम एक पत्नीव्रत तथा।
मै जानती हूँ, तुम कहो न कहो इसे।
पर तुम पुरुष हो, धीर हो,
ज्ञानी, गुणी, गम्भीर हो।
तुम सह सकोगे मैं न सह सकती जिसे।"

[२८]

तब शील-सद्गुण-संयुता
कहने लगी यों द्विज-सुता,—
"हे तात ! हे माँ, तुम सुनो मेरी कही—
सूझी मुझे वह युक्ति है;
जिससे सहज ही मुक्ति है;
आनन्द-पूर्वक मैं बताती हूँ वही।

[२९]

कल हो कि आज,कि हो अभी,
पर जानते हैं यह सभी,—
है दान की ही वस्तु कन्या लोक में।
तो त्याग तुम मेरा करो,
आपत्ति यों अपनी हरो।
मैं भी बनूं कुल-कीर्त्ति-धन्या लोक में।

[३०]

चिन्ता मयी मानों चिता
होती सुता है हे पिता;
आपत्ति - सी है जन्म लेती गेह में।
सम्पत्ति होने दो मुझे,
यह दुःख खोने दो मुझे;
मरने मुझे दो आज अपने स्नेह में।

[३१]

यदि तुम नहीं तो माँ नहीं,
तुम हो जहाँ वे भी वहीं।
माँ के विना बच्चा कहाँ बच पायगा ?
भाई गया तो क्या रहा,
सम्पूर्ण कुल का कुल बहा।
हा ! कौन किसको पिण्ड फिर पहुँचायगा ?

[३२]

पर मैं मरूँ तो ग्लानि क्या,
सब तो बचेंगे हानि क्या?
इससे मुझे बलि आज होने दो न क्यों?
लघु लाभ का क्यों लोभ हो,
गुरु हानि का जो क्षोभ हो।
लघु हानि कर गुरु लाभ हो तो लो न क्यों?

[३३]

मै त्याग के हो अर्थ हूँ,
बच भी रहूँ तो व्यर्थ हूँ।
फिर क्यों न मुझको आज ही तुम त्याग दो?
यह और आगे की सभी
मिट जायँ चिन्ताएं अभी।
मै मॉगती हूँ, पुण्य का यह भाग दो।

[३४]

सन्तान वह जो तार दे,
कुल - भार ; आप उतार दे।
उसको सभी हैं चाहते इस भाव से।
निज-धर्म धारूँ क्यों न मैं,
कुल को उबारूँ क्यों न मैं ?
तुम भी तरो यह विपदनद इस नाव से।"

[३५]

द्विजवर्य फिर कहने लगा,
करुणाश्रु जल बहने लगा ;—
"डालो न मुझको मोह करके मोह में।
यह कथन है समुचित तुम्हें ;
है इष्ट मेरा हित तुम्हें ;
पर लाभ क्या इस व्यर्थ के विद्रोह में ?

[३६]

पाणिग्रहण जिसका किया,
सब भार जिसका है लिया,
कैसे उसे मैं मृत्यु-मुख में छोड़ दूँ ?
होमाग्नि सम्मुख विधिविहित,
जिसको किया निज में निहित,
सम्बन्ध उस सहधर्म्मिणी से तोड़ दूँ ?

[३७]

ब्राह्मणि, सुनो, रोओ न यों,
धीरज धरो, खोओ न यों,
निज हित इसीमें तुम भले ही मान लो।
जो आप बक को बलि बनो,
नव पुत्र-सा कुल-हित जनो।
पर धर्म मेरा क्या ? इसे भी जान लो।

[३८]

हा ! और यह कुलपालिका,
मेरी विनीता बालिका,
निज मुख वृथा ही आँसुओं से धो रही।
यह आँख मेरी दूसरी,
द्विज पाँख मेरी दूसरी,
मेरे लिए है आप ही हत हो रही।

[३९]

पर, पुत्रि, इसमें सार क्या ?
तेरा यहाँ अधिकार क्या ?
तू हर सकेगी दूसरे घर की व्यथा।
अधिकार पालन मात्र का—
मुझको कि लालन मात्र का,
सचमुच पराई वस्तु है तू सर्वथा।

[४०]

जो है धरोहर मात्र ही,
लेगा जिसे सत्पात्र हो,
क्या दैत्य को दूँ मै उसे उपहार में?
तू ले रही निश्वास है,
पर, क्या तुझे विश्वास है,
मैं पड़ सकूँगा इस अधम अविचार में?

[४१]

जिसके लिए तू है बनी,
तेरा बनेगा जो धनी,
आज्ञा विना उसको तुझे भी स्वत्व क्या?
जो तू स्वयं कुछ कर सके,
मेरे लिए भी मर सके,
हा! शान्त हो, इस वन-रुदन में तत्व क्या?

[४२]

अबला सदा ही रक्ष्य है,
नर-नीति का यह लक्ष्य है।
कैसे न रक्खूं फिर भला निज नीति में?
ब्राह्मणि, तुझे क्या भय वहाँ,
ध्रुव धर्म्म की है जय जहाँ;
पाता नहीं तेरे लिए कुछ भीति मैं।

[४३]

माना कि अबला नारियाँ,
होतीं सहज सुकुमारियाँ;
पर, वे चला सकतीं नहीं संसार क्या?
करुणा-मयी, ममता-मयी,
सेवा-मयी, क्षमता-मयी,
वे कर नहीं सकतीं यहाँ उपकार क्या?

[४४]

बहु कर्म-कुशला, गुणवती,
तू है कला-शीला, सती,
निर्वाह का क्या सोच सालेगा तुझे?
करके उचित परिचालना,
इस पुत्र को तू पालना;
"होकर युवक यह आप पालेगा तुझे!"

[४५]

बैठी बहन के स्कन्ध पर,
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल-दीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा!
"मालूँ अचुल को मै अभी, वह है कहाँ?"

[४६]

थी शोक की छाई घटा,
उसमें उठी विद्युन्छटा।
रोते हँसे, हँसते हुए रोये सभी।
तब ब्राह्मणी ने सिर धुना,
वह शब्द कुन्ती ने सुना।
वह वायु-गति से आप आ पहुँची तभी।

[४७]

"यह शोक कैसा है अरे!
तुम लोग क्यों आँसू भरे?
आपत्ति क्या तुम पर अचानक आ पड़ी।
क्या भय उपस्थित है कहो,
आत्मीय हूँ मैं भी अहो!
जो कर सकूँ, तैयार हूँ मैं हर घड़ी।"

[४८]

तब विप्र ने बक की कथा,
अपनी तथा सबकी व्यथा,
उसको सुनाई दुःख से, निर्वेद से।
सारी अवस्था जान कर,
अति दुःख मन में मान कर,
कहने लगी कुन्ती वचन यों खेद से,—

[४९]

"हा ! देश यह असहाय है,
मरता, न करता हाय है !
मुझसे कहो, राजा यहाँ का कौन है ?
कुछ यत्न वह करता नहीं,
कर्त्तव्य से डरता नहीं ?
मरती प्रजा है और रहता मौन है।

[५०]

यदि भीरु वह दुर्बलमना,
तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?
राजा प्रजा के अर्थ है,
यदि वह अपटु, असमर्थ है,
कारण वही है तो स्वयं उत्पात का।

[५१]

सबके सदृश उस भूप की,
उस पाप के प्रतिरूप की,
बक के लिए बारी कभी पड़ती नहीं ?
जूझे कि निज पद त्याग दे;
सबके सदृश बलि भाग दे;
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं ?

[५२]

राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें।
जो सब तरह अपनी सुनें;
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

[५३]

पर है यहाँ की जो प्रजा,
जो है बनी बलि की अजा;
वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है।
डाले नहीं तो यदि अभी,
भर धूल मुट्ठी भर सभी;
तो धूल में मिल जाय वक, सो स्पष्ट है।

[५४]

जो हो, कहो हे भूमिसुर,
तुम छोड़ कर यह पापपुर,
अन्यत्र हो न चले गये कुल-युक्त क्यों ?
पृथ्वो पृथुल है, पार क्या ?
ऐसा यहाँ था सार क्या ?
जाते कहीं होते न तो बक-भुक्त यों ।"

[५५]

द्विज ने कहा-(कुन्तो रुको)
"जो बात निश्चित हो चुकी,
किस भाँति मैं उससे भला मुँह मोड़ता ?
अच्छा बुरा जैसा सही,
बक-संग समझौता यही,
सबने किया है, किस तरह मैं तोड़ता ?

[५६]

सबको विपद् में छोड़ कर,
किस धर्म-धन को जोड़ कर,
भद्रे, यहाँ से भाग जाता हाय! मैं ?
सबकी दशा जो हो यहाँ,
मैं भागता उससे कहाँ ?
निज हेतु क्या सब पर करूँ अन्याय मैं ?

[५७]

जाकर रहे कोई कहीं,
यह देह रहने की नहीं;
आत्मा परन्तु कभी कहीं मरता नहीं।
जो कर्म तत्प्रतिकूल है,
करना उसे फिर भूल है।
मैं धर्म के प्रतिकूल कुछ करता नहीं।

[५८]

मै भाग सकता था यथा,
सब भाग सकते थे तथा;
रहती व्यवस्था ही कहाँ से फिर यहाँ?
इस मृत्यु में फिर भी नियम—
है और सबके हेतु सम;
पर अव्यवस्थित त्राण पा सकते कहाँ?

[५९]

राजा विवश है क्या करे,
यदि वह लड़े भी तो मरे।
बल है विपुल वक का, प्रजा लाचार है।
उद्योग-रत सब लोग हैं,
पर क्या सहज शुभ-योग हैं?
यों एक के सिर नित्य सबका भार है।

[६०]

जन एक देता प्राण है,
होता सभीका त्राण है;
सबके लिए निज नाश करना भी भला।
फिर किस तरह मैं भागता,
निज जन्मभू को त्यागता?
दस भाइयों के साथ मरना भी भला।"

[६१]

"पर मरण क्या उसका भला,—
तुष-तुल्य जो धीरे जला?
उसकी अपेक्षा भभक जाना ठीक है।
है तेज तो उसमें तनिक,
चकचौंध होती है क्षणिक।
हा! एक ही सबकी तुम्हारी लीक है!

[६२]

द्विज देवता, मैं क्या कहूँ,
पर मौन भी कैसे रहूँ?
निज जन्मभू की भी दुहाई व्यर्थ है।
क्या जन्मभू है हाय! सो,
निज मृत्युभू बन जाय जो,
विस्तीर्ण वसुधा भर हमारे अर्थ है।

[६३]

पर शक्ति हममें चाहिए,
अनुरक्ति हममें चाहिए;
निर्बल जनों का विश्व में कोई नहीं।"
कुन्ती सिहर कर चुप हुई,
(घहरी घटा फिर घुप हुई)
भर नेत्र आये किन्तु वह रोई नहीं।

[६४]

धर धैर्य फिर कहने लगी,
वाणी परम प्रियता-पगी,—
"कुछ हो, सभी निश्चिन्त तुम बक से रहो।
बस है तुम्हारे एक सुत,
पर, पाँच है मेरे अयुत;
दूँगी तुम्हें मै एक उनमें से अहो!"

[६५]

इस बार दो आँसू चुए,
सब लोग विस्मित-से हुए;
द्विज ने कहा—"यह क्या अरे! यह क्या शुभे!
तुम अतिथि, मुझको मान्य हो,
तेजोनिधान, वदान्य हो;
माना तुम्हें, कण्टक हमारे है चुभे।

[६६]

पर धर्म क्या मेरा यही,
सह क्या इसे लेगी मही?
आश्रय दिया था क्या तुम्हें बलि के लिए?
मुझको, न तुमको भी सुनो,
यह उचित है, समझो गुनो।
सम्भव नहीं यह कृति स्वयं कलि के लिए।"

[६७]

"हे विप्र"—कुन्ती ने कहा,
"यह भूमि है सर्वसहा।
कलि और कृत युग हैं यहाँ देखो जभी।
मिल कर सदैव बुरा-भला,
संसार जाता है चला।
होते बुरे न भले सभी जन हैं कभी।

[६८]

निज धर्म तुम हो जानते;
हमको बहुत कुछ मानते;
निज धर्म मैं भी जानती हूँ फिर कहो,
जिसने हमें आश्रय दिया,
सन्तुष्ट सब विध है किया,
उपकार उसका आज क्या हमसे न हो?"

[६९]

"उपकार"-द्विज बोला वहीं—
"क्या प्राण देकर भी? नहीं,
जो प्राण से भी प्रिय अधिक है सृष्टि में,
वह पुत्र बलि देकर? हरे!
क्या कर रही हो तुम अरे!
यह तेज कैसा है तुम्हारी दृष्टि में!

[७०]

देवी, कहो तुम कौन हो;
क्यों मूर्ति वन कर मौन हो?
दृढ़ता नहीं देखी कहीं ऐसी कभी।
अच्छा रहो, यह तो सुनो,
तुम कौन सुत दोगी? चुनो;
दोगी तथा कैसे सुनूँ यह तो अभी?"

[७१]

"हे विप्रवर, पूछो न यह।"
कुन्ती सकी आगे न कह।
द्विज-पुत्र घुटनो में लिपट कर था खड़ा।
उसको उठाकर गोद में,
मुहँ चूम करुणाऽमोद में,
बोली कि-"मेरे वत्स, तू बन जा बड़ा।"

[७२]

माँ-बेटियाँ अब रो उठीं,
आकुल अधीरा हो उठीं;
कहने लगी सविषाद विप्र कुटुम्बिनी,—
"यह शिशु तुम्हारा ही रहे,
शत बार तुमको माँ कहे।
हो रक्षिका इसकी तुम्हीं, मुख-चुम्बिनी।

[७३]

द्विजबालिका फिर कह उठी,
घृत-पुत्तली गल, बह उठी,—
"पर-हेतु आर्ये, तुम विपद में क्यों पड़ो?"
"बेटी, बड़ा सुख है यही।"
यह बात कुन्ती ने कही—
"तुम भी सदा पर-संकटों से यों लड़ो।

[७४]

भोजन बनाओ, अब उठो,
निज कार्य साधो, सब उठो ;
तुमको अभय-दायक वचन मैंने दिये।
मेरे लिए चिन्ता तजो,
भगवान को निर्भय भजो ;
प्रभु जो करेगा सब भले के ही लिए।"

[७५]

पाकर अभय का दान भी,
उसको अयाचित मान भी,
द्विज-धर्म-भीरु न पा सका सन्तोष कुछ।
जिसमें पराई हानि है,
उस लाभ में भी ग्लानि है ;
भरता नहीं है स्वार्थ से शुभ-कोष कुछ।

[७६]

उसने कहा—"हे त्यागिनी,
हे सर्वथा शुभ भागिनी,
उपकार भी सहनीय होना चाहिए।
मैं आज इससे दब रहा,
फिर जाय यह क्यों कर सहा,
हाँ, भार भी वहनीय होना चाहिए।

[७७]

सब सुत तुम्हारे धन्य हैं;
गुण-रूप-शील अनन्य हैं;
बल-वीर्य, विद्या-बुद्धि से वे हैं भरे।
वे पाँच पंच बने रहें;
क्यों व्यर्थ यह बाधा सहें;
उनको बहुत-से कार्य करने हैं हरे!"

[७८]

"तो एक यह भी कार्य है,
यह भी उन्हें अनिवार्य है,
आशीष दो कर लें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मार कर,
हों धन्य पुर-उपकार कर;
या कीर्त्ति लें कर सूर्य-मण्डल विद्ध वे!

[७९]

यह कौन ऐसा भार है,
जिसका विशेष विचार है?
यह है हमारी अल्पमात्र कृतज्ञता।
कैसे न फिर यह व्यक्त हो,
तुम विप्रवर, न विरक्त हो;
कर जायँ क्या हम जान कर भी अज्ञता?"

[८०]

यों प्रश्न-पूर्वक निज कथा
निःशेष कर मानों वृथा,
कुन्ती विना उत्तर लिए निर्गत हुई।
ठहरी न वह, न ठहर सकी,
अति कार्य कर मानो थकी;
बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई।

[८१]

आ शीघ्र अपने स्थान पर,
सिर रख स्वभुज उपधान पर,
वह लेट कर कहने लगी यों आप ही—
"हे प्राण, तुम पाषाण हो,
अब आप अपने शाण हो,
हा ! दैव मेरे अर्थ है सन्ताप ही।

[८२]

केवल कहा ही है अभी,
अविशिष्ट है करना सभी,
पर मन, अभी से तू विकल होने लगा।
ऐसे चलेगा काम क्या,
तेरा रहेगा नाम क्या?
आरम्भ में ही हाय! तू रोने लगा।

[८३]

स्वामी गये शिशु छोड़ कर,
राजत्व उनका जोड़ कर,
वह भी गया, अब हाय! क्या सुत भी चले?
प्रभु, क्यों मुझे इतना दिया,
जो फिर सभी लौटा लिया;
छल कर मुझे क्यों आप अपने से छले?

[८४]

जिनके यहाँ दो दिन रही,
उपकार जिनका है यही,
मरने न जाने दे रही हूँ मैं उन्हें।
फिर वक-निकट चिरभक्ति-मय,
जाने मुझे देंगे तनय—
जो गर्भ से हो से रही हूँ मैं उन्हें?

[८५]

भगवान, मैं ही किस तरह,
जाने उन्हें दूँ इस तरह;
क्या मारने को ही उन्हें मैंने जना?
प्रभुवर, परीक्षा लो न यों;
तुम वज्र-निर्दय हो न यों;
अवला सदा दयनीय हूँ मैं मृदुमना।

[८६]

तुम किन्तु निश्चय कर यही,
यदि हो रहे हो आग्रही,
स्वीकार है तो मैं जियूँ चाहे मरूँ।
ले लो प्रभो, सब जो दिया,
मैंने हृदय दृढ़ कर लिया;
पर यह बता दो क्या करूँ मैं, क्या करूँ ?"

[८७]

कर्त्तव्य कुन्ती कर चुकी,
वह विप्र-विपदा हर चुकी;
वात्सल्य-वश अब हो उठी विचलित वही।
जो थी शिला-सी निश्चला,
अब रुँध गया उसका गला;
वह देर तक जल-मग्न-सी लेटी रही।

[८८]

वह लीन थो भगवन्त में,
हलका हुआ जी अन्त में;
हाँ, बढ़ गई अत्यन्त ही गम्भीरता।
जब वीर पुत्रों से मिली;
तब फिर तनिक काँपी-हिली।
पर, अन्य क्षण मानो प्रकट थी धीरता!

[८९]

जो था हुआ सब कह गई,
सुत-समिति विस्मित रह गई।
बोले युधिष्ठिर तब कि "माँ, यह क्या किया?
पर-हेतु मरने के लिए,
निज सुत, बिना अकधक किये,
किस भाँति भेजेगा तुम्हारा यह हिया?

[९०]

मुझको समझ पड़ता नहीं।"
माँ ने दिया उत्तर वहीं,—
"यह हृदय ऐसा ही बना है क्या कहूँ?
ऐसा जटिल, पूछूँ किसे,
विधि ने बनाया क्यों इसे;
अबला रहूँ मैं और हा! सब कुछ सहूँ!

[९१]

यह दैव का अन्याय है;
पर वत्स, कौन उपाय है?
पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा।
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किये,
देती विदा है गर्व कर हम कर्कशा।

[९२]

फिर भी हृदय फटता नहीं,
उलटा प्रमद अटता नहीं।
पर, दूसरे के दुःख में मेरा हिया,
करुणार्द्र होता है स्वयं,
शिशु-तुल्य रोता है स्वयं;
अभ्यास ने इसको यही शिक्षण दिया।"

[९३]

सब पाण्डु-सुत गद्गद हुए,
आनन्द से उन्मद हुए,—
"समुचित हमारी जन्मदा को है यही।
हमने परीक्षा ली वृथा।"
हँस कर पुनः बोली पृथा—
"बेटा, परीक्षा तो नियति ही ले रही!"

[९४]

फिर हो गई गम्भीर वह,
जिसमें कि हो न अधीर वह;
माना न किन्तु तथापि माँ का अश्रुजल।
दो बूँद बह कर ही रहा,
सहदेव ने तब यों कहा,—
"बलि दो मुझे माँ, जन्म मेरा हो सुफल।"

[९५]

"पुनरपि परीक्षा, हाय रे!
कैसे सहा यह जाय रे!"
उसने कहा—"बेटा, तुम्हें बलि दूँ? रहो;
दो पुत्र माद्री ने जने,
दो ही रहें मेरे बने।
बस, इस विषय में अब न तुम कुछ भी कहो।"

[१६]

तब वीर अर्जुन ने कहा ;—
"माँ, तुम मुझे भेजो, अहा !
सब जानते हैं 'पार्थ' मेरा नाम है।"
पर भीम ने रोका उन्हें,
सप्रेम अवलोका उन्हें ;—
"ठहरो तनिक तुम, भीम का यह काम है।

[१७]

लघु तुम, तथा गुरु आर्य है ;
क्या ये तुम्हारे कार्य है ?
माँ, ठीक है बस, किन्तु तुम क्यों रो उठीं ?
समझा, समझ मे आ गया,
कर्त्तव्य क्षतिपन पा गया ;
वात्सल्य-वश अब हाय ! विचलित हो उठीं ।

[९८]

पर माँ, न तुम कुछ भय करो,
निज भीम का जय जय करो;
इन बहुओं में बल नहीं निस्सीम क्या?
इन युग्म के रहते हुए,
बक - मुष्टियाँ सहते हुए,
पशु-तुल्य मरने को हुआ है भीम क्या?

[९९]

बक से बहुत जन हैं मरे,
उसने लिए बहु ओसरे;
बारी उसीकी जान लो, अब आगई।
बलवान कम न हिडिम्ब था,
यम का पृथुल प्रतिबिम्ब था;
पर, शत्रुता मेरी उसे भी खा गई।

[१००]

सबको यहाँ अब हर्ष हो,
मेरा नया उत्कर्ष हो;
समझो इसे हे अम्ब, तुम शुभ योग ही।
निष्फल निरख कर निज गदा,
कहता यहाँ मैं था सदा,—
'क्या भाग्य में है हाय ! भिक्षा भोग ही ?'

[१०१]

खुजली मिटेगी कल ज़रा,
हो जायगा फिर बल हरा;
दुर्दान्त पापी दैत्य मारा जायगा।
पक्वान्न जो वक के लिए,
बलि-संग जाते हैं दिये;
माँ, स्वादु उनका भी मुझे ही आयगा !"

[१०२]

हँसती तथा रोती हुई,
सुध-बुध सभी खोती हुई,
कहने लगी कुन्ती कि—"सब जीते रहो,
मेरी तुम्हींसे आस है,
मन में बड़ा विश्वास है;
तुम नित नये यश का अमृत पीते रहो।

[१०३]

सब शत्रुओ को मार कर,
पितृ राज्य का उद्धार कर,
भोगो सभी सुख-भोग मिलकर सर्वदा।
गुण-गण तुम्हारे गेय हों,
अनुपम चरित चिर ध्येय हों;—
दृष्टान्त हो सम्पद-विपद में तुम। सदा!"

[१०४]

प्रेमाश्रुओं को सृष्टि से,
दर्शन न पाकर दृष्टि से,
पाँचों सुतों को युग करो से घेर कर,
कुन्ती परम प्रमुदित हुई,
मानों उषा समुदित हुई,
सरसीरुहों पर निज कनक-कर फेर कर।

[१०५]

इसके अनन्तर किस तरह,
(हरि मत्त करि को जिस तरह)
बक-वध वृकोदर ने किया पर दिन वहाँ;—
लिखते नहीं अब हम इसे,
पढ़ना यही प्रिय हो जिसे,
कृपया क्षमा कर दे हमें वह जन यहाँ।

वन-वैभव



श्रीगणेशायनमः

वन-वैभव

पूर्वार्द्ध

[१]

अतुल वह अपना हेमागार,
जलाकर कर देने को छार,
जानकी रूपी आग अपार,
चुराने का करके कुविचार,
चला जो रावण निपट निषिद्ध,
मङ्गलाचरण करे वह सिद्ध ?

[२]

"तुम्हारे भाई बेचारे,
जुए में जो सब कुछ हारे,
विपिन में दीन भाव धारे,
भटकते हैं मारे मारे।
न जानें कैसे है वे लोग,
यहाँ हम करते हैं सुख-भोग!

[३]

खबर लें उनकी, चलो जरा,
कि वन में होगा हृदय हरा।
वहाँ है निर्मल नीर भरा,
और मृगया के योग्य धरा।"
शकुनि की सुन यों गूढ़ गिरा,
हँसा दुर्योधन हठी निरा।

[४]

"खबर की तुमने खूब कही,
उचित है मामा, हमें यही।
पिता की आज्ञा किन्तु रही,
वहाँ मृगया ही मुख्य सही!"
कर्ण ने कहा—"धन्य लक्षी,
एक ढेले में दो पक्षी!"

[५]

विकट यह तीन तिकट मिल के,
हँसा फिर खिल खिल कर खिल के,
हौसले ले ले कर दिल के,
ताड़ कर करके तिल तिल के,
सफल करने अभिलाष नया,
अन्ध नृप-निकट तुरन्त गया।

\

[६]

कहा दुर्योधन ने—"हे तात,
लगो है कुछ सिहों की घात।
विपिन में है उनका उत्पात,
जहाँ है अपना पशु-संघात।
करेंगे हम मृगया वन में,
घोष यात्रा को है मन में।"

[७]

सुना भूपति ने "हूँ" करके,
"ठीक है" कहा आह भर के।
"हेतु है किन्तु वहाँ डर के,
विचारो तुम्हीं ध्यान धर के।
वहीं पाण्डव भो रहते हैं,
दुःख मन ही मन सहते हैं।

[८]

देख कर तुमको सम्मुख हाय !
क्रोध उनका न कहीं जग जाय।
रहेगा तो फिर कौन उपाय ?
न समझो तुम उनको असहाय।
शक्ति उनकी है सबको ज्ञात,
सुरों में भी है यश विख्यात।"

[९]

शकुनि ने कहा—"व्यर्थ यह सोच,
प्रबल हों वे या पूरे पोच,
कहूँगा यह मैं निस्सङ्कोच,
नहीं है उनके मन में मोच।
न हो जब तक अज्ञात-निवास,
करेंगे वे न विरोधाभास।"

[१०]

भूप को देकर यों सन्तोष,
साथ लेकर बहु जन, धन-कोष,
दैव का लिये अलक्षित रोष,
घोष-यात्रा का करके घोष,
जले पर नमक छिड़कने हाय !
चला वह कुरुकुल का समुदाय।

[११]

धरा को धसका कर मातङ्ग
बढ़े दिखला कर निज गति-रङ्ग।
उड़ा कर उसकी धूल तुरङ्ग,
चले ज्यों चपल अपाङ्ग सभङ्ग।
भूमि पर सङ्कट-सा आया,
उसे ऊँटों ने उकसाया!

[४४]

करें तो करलें वे उपहास,
पूर्ण हो ले अज्ञात निवास।
जायँगे तब हम उनके पास,
और फिर माँगेगे निज न्यास,
उसे यदि देंगे वे हित मान
क्षमा पावेंगे बन्धु-समान।

[४५]

किन्तु यदि वे हठ ठानेंगे,
न्याय की बात न मानेंगे,
याद रक्खें, तो जानेंगे,
हमें रण मे पहचानेंगे।
राज्य के नहीं, धर्म्म के अर्थ
उठेंगे तब ये शस्त्र समर्थ।

[४६]

शान्त हो भाई, कृष्णे, शान्त ;
न आतुर हो तुम यों एकान्त ।
अभागा दुर्योधन है भ्रान्त ,
न हो निज सहनशीलता श्रान्त ।
तुम्हें है क्रोध, मुझे है
नहीं है उसे हिताहित-

[४७]

दयामय, उसे बुद्धि-वर दो ;
भाइयो, तुम भी यह कर दो—
और उसको कुछ अवसर दो ,
धैर्य्य अपना न यहीं धर दो ।
क्षमा करके हरि ने सौ
किया था चेदीश्वर पर

[४८]

नहीं हो सकते हैं हरि हम,
स्वयं प्रभु हैं वे पुरुषोत्तम।
किन्तु अनुकृति ही है क्या कम?
करेगा वही हमें सक्षम।
इसीसे होते हैं अवतार,
कि उनसे शिक्षा ले संसार।"

[४९]

कहा तब अर्जुन ने—"हे आर्य्य,
आपका शासन शिरसा धार्य्य।
हमारा क्रोध रहे अनिवार्य्य—
सफल हो किन्तु आपके कार्य्य।
तदपि क्या दुर्योधन का चित्त
फिरेगा अब भी शान्ति-निमित्त?

[५०]

भले ही कुछ भी हो परिणाम,
फलाफल से है हमें न काम—
करेंगे हम स्वकर्म्म निष्काम,
विफल भी देंगे वे विश्राम।
और भी शान्त रहें ये बाण,
हमारे है बस आप प्रमाण।

[५१]

शान्त हों आर्य्य भीम, इस बार।"
भीम तब बोले मन को मार—
"आर्य्य का है जब यही विचार
वहन करना ही होगा भार।
सहा सब इनके कहने से,
हटेंगे अब क्यों सहने से?

[५२]

आर्य्य के पीछे वह अपमान—
सहे हमने सम्मान-समान।
आज ही वही हमारा ध्यान,
किन्तु यह जीवन है वेजान।
करूँ तो जाकर मैं अब लोप
हिंस्र जीवों पर ही वह कोप !"

[५३]

भीम यों कह कर वचन यथार्थ,
गये आवेग - सदृश मृगयार्थ।
समझ निष्फल-सा निज पुरुषार्थ,
हुए निश्चल भी चञ्चल पार्थ।
युधिष्ठिर देकर पुनः प्रबोध,
मेटने लगे सभीका क्रोध।

उत्तरार्द्ध

[१]

इधर कौरव-दल गौरव धार,
विपिन में करने लगा विहार।
गूँजने लगी गान - गुञ्जार,
नूपुरों की नव-नव झङ्कार।
कहीं कुञ्जों में क्रीड़ा, भेट,
कहीं जल-केलि, कहीं आखेट,

[२]

उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पड़ा!

[३]

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विरचता था वासान्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुत शशि थे सर में प्रतिभात।
सरस सर की निहार शोभा,
सुरों का मानस भी लोभा।

[४]

अप्सराओं को लेकर सङ्ग ;
नैश निस्तब्ध भाव कर भङ्ग ,
बहाता हुआ रास-रस-रङ्ग ,
चित्ररथ भरे अपूर्व उमङ्ग ,
चन्द्र-तारो को दे ब्रीड़ा ,
वहाँ करता था जल-क्रीड़ा ।

[५]

अचानक इसी समय अनिवार
विपिन में करता हुआ विहार ,
झूमता हुआ कुञ्जराकार ,
साथ में लिये प्रणय-परिवार ,
स्वयं भी जल-विहार के हेतु ,
वहाँ पर आ पहुँचा कुरु-केतु ।

[६]

उसे गन्धर्वों ने टोका,
तर्जनी दिखलाई रोका;
जरा-सा खाकर तब झोंका,
क्रोध से उसने अवलोका।
उठी जो उसकी भृकुटि कराल,
खिचीं सौ तलवारें तत्काल!

[७]

हुआ गन्धर्वों पर आघात,
चित्ररथ तक पहुँची यह बात—
कि 'कोई उद्धत मानव-जात
मचाता है आकर उत्पात।'
सिन्धु से उच्चैःश्रवा-समान,
हुआ सरनिर्गत वह बलवान।

[८]

क्षोभ से जलने लगा शरीर,
विना पोछे ही सूखा नीर!
बदल कर वस्त्र शीघ्र वह वीर,
उठा कर धनुष, चढ़ा कर तीर—
जिधर होता था रण का शोर,
चला शार्दूल-सदृश उस ओर।

[९]

अप्सराएँ पुष्करिणी-सी,
देख भय-बाधा करिणी-सी,
विकल हो हहरी हरिणी-सी,
काँपती थीं सब तरिणी-सी।
हाथ से देकर उन्हें प्रबोध,
चित्ररथ चला गया सक्रोध।

[१०]

पहुँच दुर्योधन-सम्मुख शूर,
घोर नेत्रों से उसको घूर,
कूकता हो ज्यों कुपित मयूर
वचन बोला सुस्वर से क्रूर—
"कौन है तू, ओ उद्धत, धृष्ट,
यहाँ जो आया मरणाकृष्ट ?"

[११]

दुर्योधन भी बोला सक्रोध—
"ज्ञात क्या तुझको नहीं अबोध,
कि करके जिसका मार्ग निरोध,
किया है तुमने आत्म-विरोध।
वही इस पृथ्वी का स्वामी
दुर्योधन नृप हूँ मैं नामी ?"

[१२]

"अरे, तू ही दुर्योधन है,
दुष्ट, दाम्भिक जो दुर्जन है,
अनुज जिसका दुःशासन है,
प्रकट जिसका पामरपन है?
भाइयों को भिक्षुक करके
बना नृप उनका धन हरके।

[१३]

मानता हूँ, तू है नामी,
किन्तु कुल-काल, कुपथगामी।
आज इस पृथ्वी का स्वामी
बना फिरता है तू कामी!
पकड़ रखना तू इसका हाथ
सती होगी यह तेरे साथ!

[१४]

मूढ़, तुझ-से कितने भूपाल
हुए, हैं, होंगे विपुल विशाल।
किन्तु सबके पीछे है काल,
रहा इसका ऐसा ही हाल।
बहुत है यही, कहूँ क्या और
कि देगी तुझको भी यह ठौर।

[१५]

तुझे है लगा राज्य का रोग,
इष्ट है अपना ही भू-भोग;
कि भाई हैं जो पाण्डव लोग,
सह्य उनका भी नहीं सुयोग।
किन्तु है भू पर सबका भाग,
करेंगे जिसे न तृण भी त्याग।

[१६]

समय है अब भी चेत अचेत,
नहीं तो उजड़ जायगा खेत।
धर्म्म-पथ धर कर धैर्य्य-समेत,
लौट जा जीवित नृपति-निकेत!
हुआ था यद्यपि मुझको रोष,
क्षमा करता हूँ तेरा दोष।"

[१७]

"तुझे तो पर मैं दूँगा दण्ड,
कि कोई भी हो तू पाषण्ड!
सँभल, अब यह मेरा कोदण्ड
छोड़ता है चञ्चल शर चण्ड।"
वाण यों कहते कहते जोड़;
दिया झट दुर्योधन ने छोड़!

[१८]

किये कर्णादिक ने भी वार,
चित्ररथ सँभला किसी प्रकार।
और बोला—"धिक् पापाचार!
दण्ड ही है तेरा उपचार।"
न करके उसने भी विक्षेप,
किया सम्मोहन-शर-निक्षेप।

[१९]

शीघ्र उस शर का पड़ा प्रभाव,
हुआ सब कौरव-दल हतहाव।
चढ़ा तब गन्धर्वों को चाव,
उन्होंने किया विकट वर्ताव।
कि सारे शूरों को पकड़ा,
विमानों से बाँधा, जकड़ा!

[२०]

कौरव-स्त्रियाँ देख यह हाल,
पीटने लगीं वक्ष या भाल।
विकल थे कौरव क्रुद्ध कराल,
सिंह ज्यों तोड़ न पाकर जाल।
हुआ कातर-कोलाहल-नाद,
शिविर तक पहुँचा यह संवाद।

[२१]

वहाँ थे वृद्ध सचिव या दास,
व्यर्थ था उनका रण-प्रयास।
विवश होकर लेकर निश्वास,
चले वे धर्म्मराज के पास।
किन्तु लज्जित थे मन मन में,
पुकारें और किसे वन में!

[४४]

करें तो करलें वे उपहास,
पूर्ण हो ले अज्ञात निवास।
जायँगे तब हम उनके पास,
और फिर माँगेंगे निज न्यास,
उसे यदि देंगे वे हित मान
क्षमा पावेंगे बन्धु-समान।

[४५]

किन्तु यदि वे हठ ठानेंगे,
न्याय की बात न मानेंगे,
याद रक्खे, तो जानेंगे,
हमें रण मे पहचानेंगे।
राज्य के नहीं, धर्म्म के अर्थ
उठेंगे तब ये शस्त्र समर्थ।

[४६]

शान्त हो भाई, कृष्णे, शान्त ;
न आतुर हो तुम यों एकान्त ।
अभागा दुर्योधन है भ्रान्त ,
न हो निज सहनशीलता श्रान्त ।
तुम्हें है क्रोध, मुझे है खेद ,
नहीं है उसे हिताहित-भेद ।

[४७]

दयामय, उसे बुद्धि-वर दो ;
भाइयो, तुम भी यह कर दो—
और उसको कुछ अवसर दो ,
धैर्य्य अपना न यहीं धर दो ।
क्षमा करके हरि ने सौ दोष ,
किया था चेदीश्वर पर रोष ।

[४८]

नहीं हो सकते हैं हरि हम,
स्वयं प्रभु हैं वे पुरुषोत्तम।
किन्तु अनुकृति ही है क्या कम ?
करेगा वही हमें सक्षम।
इसीसे होते हैं अवतार,
कि उनसे शिक्षा ले संसार।"

[४९]

कहा तब अर्जुन ने—"हे आर्य्य,
आपका शासन शिरसा धार्य्य।
हमारा क्रोध रहे अनिवार्य्य—
सफल हों किन्तु आपके कार्य्य।
तदपि क्या दुर्योधन का चित्त
फिरेगा अब भी शान्ति-निमित्त ?

[५०]

भले ही कुछ भी हो परिणाम ,
फलाफल से है हमें न काम—
करेंगे हम स्वकर्म्म निष्काम ,
विफल भी देंगे वे विश्राम ।
और भी शान्त रहें ये बाण ,
हमारे है बस आप प्रमाण ।

[५१]

शान्त हों आर्य्य भीम, इस बार ।"
भीम तब बोले मन को मार—
"आर्य्य का है जब यही विचार
वहन करना ही होगा भार ।
सहा सब इनके कहने से ,
हटेंगे अब क्यों सहने से ?

[५२]

आर्य्य के पीछे बहु अपमान—
सहे हमने सम्मान-समान।
आज ही यही हमारा ध्यान,
किन्तु यह जीवन है बेजान।
करूँ तो जाकर मैं अब लोप
हिंस्र जीवों पर ही वह कोप!"

[५३]

भीम यों कह कर वचन यथार्थ,
गये आवेग - सदृश मृगयार्थ।
समझ निष्फल-सा निज पुरुषार्थ,
हुए निश्चल भी चञ्चल पार्थ।
युधिष्ठिर देकर पुनः प्रबोध,
मेटने लगे सभीका क्रोध।

उत्तरार्द्ध

[१]

इधर कौरव-दल गौरव धार ,
विपिन में करने लगा विहार ।
गूँजने लगी गान - गुञ्जार ,
नूपुरों की नव-नव झङ्कार ।
कहीं कुञ्जो में क्रीड़ा, भेट ,
कहीं जल-केलि, कहीं आखेट ,

[२]

उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पड़ा!

[३]

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विरचता था वासान्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुत शशि थे सर में प्रतिभात।
सरस सर को निहार शोभा,
सुरों का मानस भी लोभा।

उत्तरार्द्ध

[१]

इधर कौरव-दल गौरव धार,
विपिन में करने लगा विहार।
गूँजने लगी गान - गुञ्जार,
नूपुरों की नव-नव झङ्कार।
कहीं कुञ्जों में क्रीड़ा, भेट,
कहीं जल-केलि, कहीं आखेट,

[२]

उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पड़ा!

[३]

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विरचता था वासान्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुत शशि थे सर में प्रतिभात।
सरस सर को निहार शोभा,
सुरों का मानस भी लोभा।

[४]

अप्सराओं को लेकर सङ्ग ;
नैश निस्तब्ध भाव कर भङ्ग ,
बहाता हुआ रास-रस-रङ्ग ,
चित्ररथ भरे अपूर्व उमङ्ग ,
चन्द्र-तारों को दे व्रीड़ा ,
वहाँ करता था जल-क्रीड़ा ।

[५]

अचानक इसी समय अनिवार
विपिन में करता हुआ विहार ,
झूमता हुआ कुञ्जराकार ,
साथ में लिये प्रणय-परिवार ,
स्वयं भी जल-विहार के हेतु ,
वहाँ पर आ पहुँचा कुरु-केतु ।

[६]

उसे गन्धर्वों ने टोका,
तर्जनी दिखलाई रोका;
जरा-सा खाकर तब झोंका,
क्रोध से उसने अवलोका।
उठी जो उसकी भृकुटि कराल,
खिचीं सौ तलवारें तत्काल!

[७]

हुआ गन्धर्वों पर आघात,
चित्ररथ तक पहुँची यह बात—
कि 'कोई उद्धत मानव-जात
मचाता है आकर उत्पात।'
सिन्धु से उच्चैःश्रवा-समान,
हुआ सरनिर्गत वह बलवान।

[८]

क्षोभ से जलने लगा शरीर,
बिना पोंछे ही सूखा नीर!
बदल कर वस्त्र शीघ्र वह वीर,
उठा कर धनुष, चढ़ा कर तीर—
जिधर होता था रण का शोर,
चला शार्दूल-सदृश उस ओर।

[९]

अप्सराएँ पुष्करिणी-सी,
देख भय-बाधा करिणी-सी,
विकल हो हहरी हरिणी-सी,
काँपती थीं सब तरिणी-सी।
हाथ से देकर उन्हें प्रबोध,
चित्ररथ चला गया सक्रोध।

[१०]

पहुँच दुर्योधन-सम्मुख शूर,
घोर नेत्रों से उसको घूर,
कूकता हो ज्यों कुपित मयूर
वचन बोला सुस्वर से क्रूर—
"कौन है तू, ओ उद्धत, धृष्ट,
यहाँ जो आया मरणाकृष्ट ?"

[११]

सुयोधन भी बोला सक्रोध—
"ज्ञात क्या तुझको नहीं अबोध,
कि करके जिसका मार्ग निरोध,
किया है तुमने आत्म-विरोध।
वही इस पृथ्वी का स्वामी
सुयोधन नृप हूँ मैं नामी ?"

[१२]

"अरे, तू ही दुर्योधन है,
दुष्ट, दाम्भिक जो दुर्जन है,
अनुज जिसका दुःशासन है,
प्रकट जिसका पामरपन है?
भाइयों को भिक्षुक करके
बना नृप उनका धन हरके।

[१३]

मानता हूँ, तू है नामी,
किन्तु कुल-काल, कुपथगामी।
आज इस पृथ्वी का स्वामी
बना फिरता है तू कामी!
पकड़ रखना तू इसका हाथ
सती होगी यह तेरे साथ!

[१४]

मूढ़, तुझ-से कितने भूपाल
हुए, है, होंगे विपुल विशाल।
किन्तु सबके पीछे है काल,
रहा इसका ऐसा ही हाल।
बहुत है यही, कहूँ क्या और
कि देगी तुझको भी यह ठौर।

[१५]

तुझे है लगा राज्य का रोग,
इष्ट है अपना ही भू-भोग;
कि भाई है जो पाण्डव लोग,
सह्य उनका भी नहीं सुयोग।
किन्तु है भू पर सबका भाग,
करेंगे जिसे न तृण भी त्याग।

[१६]

समय है अब भी चेत अचेत ,
नहीं तो उजड़ जायगा खेत ।
धर्म्म-पथ धर कर धैर्य्य-समेत ,
लौट जा जीवित नृपति-निकेत !
हुआ था यद्यपि मुझको रोष ,
क्षमा करता हूँ तेरा दोष ।"

[१७]

"तुझे तो पर मैं दूँगा दण्ड ,
कि कोई भी हो तू पाषण्ड !
सँभल, अब यह मेरा कोदण्ड
छोड़ता है चञ्चल शर चण्ड ।"
वाण यों कहते कहते जोड़ ;
दिया झट दुर्योधन ने छोड़ !

[१८]

किये कर्णादिक ने भी वार,
चित्ररथ सँभला किसी प्रकार।
और बोला—"धिक् पापाचार!
दण्ड ही है तेरा उपचार।"
न करके उसने भी विक्षेप,
किया सम्मोहन-शर-निक्षेप।

[१९]

शीघ्र उस शर का पड़ा प्रभाव,
हुआ सब कौरव-दल हतहाव।
चढ़ा तब गन्धर्वों को चाव,
उन्होंने किया विकट बर्ताव।
कि सारे शूरों को पकड़ा,
विमानों से बाँधा, जकड़ा!

[२०]

कौरव-स्त्रियाँ देख यह हाल,
पीटने लगीं वक्ष या भाल।
विकल थे कौरव क्रुद्ध कराल,
सिंह ज्यों तोड़ न पाकर जाल।
हुआ कातर-कोलाहल-नाद,
शिविर तक पहुँचा यह संवाद।

[२१]

वहाँ थे वृद्ध सचिव या दास,
व्यर्थ था उनका रण-प्रयास।
विवश होकर लेकर निश्वास,
चले वे धर्म्मराज के पास।
किन्तु लज्जित थे मन मन में,
पुकारे और किसे वन में!

[२२]

भाइयों-सहित द्रौपदी-सङ्ग,
पार्श्व में रक्खे चाप-निषङ्ग,
सुनाकर सुन्दर कथा-प्रसङ्ग,
दिखाते हुए धर्म्म के अङ्ग,
यज्ञ-वेदी के सम्मुख शान्त,
युधिष्ठिर बैठे थे विश्रान्त।

[२३]

बिछे थे नीचे मृदु मृगचर्म,
सुनों, उनकी वाणी का मर्म—
"करें यदि अन्य मनुज दुष्कर्म,
तजें तो हम क्यों अपना धर्म?
धैर्य ही धर्म्म-परीक्षा है,
वही वीरों की दीक्षा है।

[२४]

राम ने राज्य-विभव छोड़ा,
उन्हें था वन में दुख थोड़ा?
भरत ने भी निज मुख मोड़ा,
धर्म्म-धन ही सबने जोड़ा।
सहेंगे दुख हम भी धर्म्मार्थ,
पुण्य ही तो है परम पदार्थ।

[२५]

पाप का क्षणिक प्रभाव विलोक,
लोभ यदि सके न कोई रोक।
शोक, तो उसकी मति पर शोक!
बना क्या, बिगड़ा जब परलोक?
विजय है वही कि सब संसार
करे पीछे भी जय जयकार।

[२६]

धर्म क्या है इतना असमर्थ
कपट जो करे प्रगति के अर्थ ?
अर्थ ही तब तो हुआ अनर्थ,
पुण्य का होना ही है व्यर्थ !
शोक में ही तब तो सुख हो,
हमें फिर क्यों दुख में दुख हो ?

[२७]

दुर्योधन से उसके अनुसार
करें यदि हम भी दुर्व्यवहार,
रहा हममें भी फिर क्या सार ?
करो कुछ इसका तुम्हीं विचार।
हमारा-उसका तो है नाम,
किन्तु है पुण्य-पाप-संग्राम।"

[२८]

"नियम का पालन किसके सङ्ग?"
प्रश्न है कृष्णा का सव्यङ्ग।
"किन्तु वह है आत्मा का अङ्ग,
करें हम कैसे उसका भङ्ग?
नियम ही अपना तोड़ा जाय,
मेघ भी बरसे फिर क्यों, हाय!

[२९]

अचानक हुआ करुणाचोत्कार—
"दुहाई धर्म्मराज के द्वार,
कहें कैसे, हे परमोदार,
बचाओ अपना कुरु-परिवार।"
चौंक कर पाण्डव खड़े हुए,
सचिव थे पैरों पड़े हुए!

[३०]

"विजित हैं बन्धु आपके सर्व,
उन्हें है बाँध चुके गन्धर्व,
शकुनि, कर्णादिक का भी गर्व
हो गया रण में सहसा खर्व।"
शत्रुओं का सुन यो अपकर्ष,
वृकोदर बोले शीघ्र सहर्ष—

[३१]

"शूर-मद था उनको भरपूर,
हुआ वह आज अचानक चूर।
चलो, हम सबके काँटे क्रूर
हुए ऊपर के ऊपर दूर!
लड़ें उनके पीछे हम क्यो?
करे प्रतिकूल परिश्रम क्यों?

[३२]

चले थे हमें कुदाने को,
हमारी हँसी उड़ाने को।
जायँ हम उन्हें छुड़ाने को—
कि बैठें हृदय जुड़ाने को?
वीर वे और बली भी हैं,
करें छल ही कि छली भी हैं!

[३३]

कहो उनसे, अब धैर्य्य धरें,
विमानों में विचरें, न डरें।
जायँ, सुरपुर की सैर करें,
स्वर्ग का भी साम्राज्य हरें।
स्वर्ग यदि न भी मिलेगा हाल,
नरक कोई न सकेगा टाल!"

[३४]

भीम के ऐसे भाव विलोक,
हुआ पाण्डव-पति को अति शोक!
सके वे और न मन को रोक,
और यों बोले उनको टोक—
"भीम, शरणागत का अपमान!
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान?

[३५]

कौरवों ने जो अत्याचार—
किये हैं हम पर वारंवार,
करेंगे उनका हमीं विचार,
नहीं औरों पर इसका भार।
क्रूर कौरव अन्यायी हैं,
हमारे फिर भी भाई हैं।

[३६]

जहाँ तक है आपस की आँच,—
वहाँ तक वे सौ है, हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिनें तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार
करें जो आकर यह व्यवहार?

[३७]

वीरता इसे नहीं कहते—
कि हम-से पाँच पाँच रहते,
हमारे भाई यों वहते,
और हम रहें इसे सहते।
दण्ड उनको देने के अर्थ
नहीं हैं क्या हम स्वयं समर्थ?

[३८]

वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ,
और तुम उन्हें छुड़ा लाओ।
शत्रु समझो, तो भी आओ
द्विगुण जय यों उन पर पाओ।
भीम, सहदेव, नकुल सब लोग;
करो जाकर समुचित उद्योग।"

[३९]

कहा अर्जुन ने—"जो आदेश,
किन्तु सब लोग करें क्यों क्लेश ?
द्रौपदी, क्या है राज्योद्देश ?
बाँध सकती हो अब तुम केश।
आर्य्य के इस सद्भाव-समक्ष
और क्या हो सकता है लक्ष ?"

[४०]

द्रौपदी ने शोकाश्रु पिये,
भीम थे भू पर दृष्टि दिये।
गर्व से ऊँचा शीश किये
गये अर्जुन गाण्डीव लिये।
लिया उनको सिर पर पथ ने;
समादर किया चित्ररथ ने—

[४१]

"मित्र, अच्छे आये इस काल,
देख लो निज रिपुओं का हाल।
तुम्हारे काँटे ये विकराल
लिये हैं मैंने सभी निकाल।
मिले थे सुरपुर में हम लोग;
आज फिर आया शुभसंयोग।"

[४२]

प्रेम-पूर्वक बोले तब पार्थ—
"हुआ मैं आज अतीव कृतार्थ।
यहाँ है ऐसा कौन पदार्थ,
करूँ जिससे आतिथ्य यथार्थ?
किन्तु ये भाई हैं मेरे—
आप यों जिनको हैं घेरे।"

[४३]

चित्ररथ बोला—"कैसी बात!
ज्ञात तो है इनके उत्पात?"
कहा अर्जुन ने—"सब है ज्ञात,
विश्व भर में हैं वे विख्यात।
किन्तु कहते हैं आर्य्य उदार—
करेंगे उनका हमीं विचार।"

[४४]

चित्ररथ बोला बाहु पसार—
"नहीं क्या मुझको यह अधिकार ?"
कहा अर्जुन ने उसी प्रकार—
"युद्ध में जाऊँ जब मैं हार।"
"चाहते हो तो यही सही।"
चित्ररथ ने यह बात कही।

[४५]

कहा अर्जुन ने—"अच्छी बात,
कीजिए 'श्रीगणेश' हे तात !
किन्तु वे दिव्यायुध विख्यात
ज्ञात हों मुझको भी है ज्ञात।
समझिए मुझको प्रस्तुत ही,
वैर-युत नहीं, प्रेम-युत ही।"

[४६]

अन्त मे होने लगा सु-युद्ध,
नहीं था फिर भी कोई क्रुद्ध।
कार्य्य करते थे विनय-विरुद्ध,
किन्तु दोनों के मन थे शुद्ध।
पालने को निज पक्ष पवित्र,
तर्क-सा करते थे दो मित्र!

[४७]

चित्ररथ ने की तब माया;
हुई उसकी अदृश्य काया।
त्राण उसने न किन्तु पाया,
शब्दबेधी शर धर लाया।
बनी वह बाणों की कारा,
हुआ वन्दी-सा बेचारा!

[४८]

स्वयं वह करता जो जो वार,
पार्थ करते उसका प्रतिकार।
न होता उनका विफल प्रहार,
हुई गन्धर्वों की ही हार।
देख यह रीति लड़ाई की
उन्होंने आप बड़ाई की!

[४९]

पार्थ फिर बोले वचन विनीत—
"क्षमा करना मुझको हे मीत!
हार हो चाहे मेरी जीत,
कार्य्य था किन्तु न विधि-विपरीत।
भाव अब भी हैं मेरे भव्य,
कठिन ही होता है कर्तव्य।

[५०]

हुई रक्ताक्त आपकी देह !"
चित्ररथ बोला तब सस्नेह—
"बिजलियाँ चमकीं, बरसा मेह,
तृप्त ही हूँ मैं हे गुण-गेह।
आत्मजय तुमने पाया है,
शत्रु का शत्रु हराया है!"

[५१]

लिये तब कौरव-दल को सङ्ग—
उड़ा था जिसके मुँह का रङ्ग।
फिरे अर्जुन ज्यों मत्त मतङ्ग,
पीठ पर झुलता चला निषङ्ग।
पहुँच कर पाण्डव-राज-समीप,
प्रणत वे हुए पाण्डु-कुल-दीप।

[५२]

झुका दुर्योधन का भी भाल,
अङ्क में भर उसको तत्काल,
युधिष्ठिर बोले आँसू डाल—
"कुल-व्रत पालो हे कुल पाल!"
किन्तु दुर्योधन का वह मौन
कहेगा सम्मति-सूचक कौन?

—

सैरन्ध्री

श्रीगणेशायनमः

सैरन्ध्री

सुफल-दायिनी रहें राम-कर्षक की सीता ;—
आर्य-जनों को सुरुचि-सभ्यता-सिद्धि पुनीता ।
फली धर्म-कृषि, जुती मर्म-भू* लङ्का जिनसे ,
वही एक है मिटे स्वजीवन-शङ्का जिनसे ।
वे आप अहिंसा रूपिणी
परम पुण्य की पूर्ति-सी ,
अङ्कित हों अन्तःक्षेत्र में
मर्यादा की मूर्ति-सी ।

बुरे काम का कभी भला परिणाम न होगा,
पापी जन के लिए कहीं विश्राम न होगा।
अविचारी का काल भाल पर ही फिरता है;
कहीं सँभलता नहीं शील से जो गिरता है।
होते हैं कारण आप ही
अविवेकी निज नाश में;
फँसते हैं कीचक सम स्वयं
मनुजाधम यम-पाश में।

जब विराट के यहाँ वीर पाण्डव रहते थे,
छिपे हुए अज्ञात-वास-बाधा सहते थे।
एक बार तब देख द्रौपदी की शोभा अति—
उस पर मोहित हुआ नीच कीचक सेनापति।
यों प्रकट हुई उसकी दशा
दृग्गोचर कर रूपवर,
होता अधीर ग्रीष्मार्त्त गज
ज्यों पुष्करिणी देखकर।

यद्यपि दासी बनी, वस्त्र पहने साधारण,
मलिनवेश द्रौपदी किये रहती थी धारण।
वसन-वह्नि-सी तदपि छिपी रह सकी न शोभा,
उस दर्शक का चित्त और भी उस पर लोभा।
अति लिपटी भी शैवाल में
कमल-कली है सोहती;
घन-सघन-घटा में भी घिरी
चन्द्रकला मन मोहती।

छिपी हुई भी प्रकट रही मानों पाञ्चाली;
छिप सकती थी कहाँ कान्ति की कला निराली?
वह अङ्गो की गठन और अनुपम अलकाली,
जा सकती थी कहाँ चाल उसकी मतवाली?
काली काली आँखें बड़ी
कानों से थी लग रहीं,
गुण और रूप की ज्योतियाँ
स्वाभाविक थी जग रहीं।

सतियाँ पति के लिए सभी कुछ कर सकती हैं ;
और अधिक क्या, मोद मान कर मर सकती हैं।
नृप विराट की विदित सुदेष्णा थी जो रानी ,
दासी उसकी बनी द्रौपदी परम सयानी।
थी किन्तु देखने में स्वयं
रानी की रानी वही ,—
कीचक की, जिसको देखकर
सुध-बुध सब जाती रही।

कीचक मूढ़, मदान्ध और अति अन्यायी था ,
नृप का साला तथा सुदेष्णा का भाई था।
भट-मानी वह मत्स्यराज का था सेनानी ,
गर्व-सहित था सदा किया करता मनमानी।
रहते थे स्वयं विराट भी
उससे सदा सशङ्क-से ;
कह सकते थे न विरुद्ध कुछ
अधिकारी आतङ्क से।

तृप्त न होकर रम्य रूप-रस को तृष्णा से,
बोला वह दुर्वृत्त एक दिन यों कृष्णा से—
"सैरन्ध्री, किस भाग्यशील की भार्या है तू?
है तो दासी किन्तु गुणों से आर्या है तू!
मारा है स्मर ने शर मुझे
तेरे इस भ्रू-चाप से!
अब कब तक तड़पूँगा भला
विरह-जन्य सन्ताप से?"

उसके ऐसे वचन श्रवण कर राजसदन में,
कृष्णा जलने लगी रोष से अपने मन में।
किन्तु समय को देख किसी विध धीरज धर के,
उससे कहने लगी शान्ति से शिक्षा करके।
होता आवेश विशेष है
यद्यपि मनोविकार में;
समयानुसार ही कार्य बुध
करते हैं संसार में।

"सावधान हे वीर, न ऐसे वचन कहो तुम ,
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम ।
है मेरा भी धर्म, उसे क्या खो सकती हूँ ?
अबला हूँ, मै किन्तु न कुलटा हो सकती हूँ ।
मै दीना हीना हूँ सही ,
किन्तु लोभ-लीना नहीं ,
करके कुकर्म संसार में
मुझको है जीना नहीं ।

पर-नारी पर दृष्टि डालना योग्य नहीं है ,
और किसीका भाग्य किसीको भोग्य नहीं है ।
तुमको ऐसा उचित नहीं, यह निश्चय जानो ,
निन्द्य कर्म से डरो, धर्म का भी भय मानो ।
है देख रहे ऊपर अमर
नीचे नर क्या कर रहे ,
दुष्कृत में सुख है तो सुजन
सुकृतों पर क्यों मर रहे ?

मेरे पति है पाँच देव अज्ञात निवासी,
तन-मन-धन से सदा उन्हींकी हूँ मै दासी।
बड़े भाग्य से मिले मुझे ऐसे स्वामी है,
धर्म-रूप वे सदा धर्म के अनुगामी हैं।
इसलिए न छेड़ो तुम मुझे,
सह न सकेंगे वे इसे;
अत भीम पराक्रम-शील वे
मार नहीं सकते किसे?"

कीचक हँसने लगा और फिर उससे बोला—
"सैरन्ध्री, तेरा स्वभाव है सचमुच भोला।
तुझसे बढ़ कर और पुण्य का फल क्या होगा?
जा सकता है यहीं स्वर्ग-सुख तुझसे भोगा।
भय रहने दे जय बोल तू,
मेरा कीचक नाम है,
तेरे प्रभु-पञ्चक से मुझे
चिन्त्य पञ्चशर काम है।

मैं तेरा हो चुका, तू न होगी क्या मेरी ?
पथ-प्रतीक्षा किया करूँगा कब तक तेरी ?
आज रात में दीप-शिखा-सी तू आ जाना,
दृष्टि-दान कर प्राण-दान का पुण्य कमाना।
जो मूर्ति हृदय में है बसी
वही सामने हो खड़ी,
आजावे झट-पट वह घड़ी
यही लालसा है बड़ी।"

यह कह कर वह चला गया उस समय दम्भ से;
कृष्णा के पद हुए विपद्-भय-जड़-स्तम्भ-से!
जान पड़ा वह राजभवन गिरि-गुहा सरीखा;
उसमें भीषण हिंस्र-जन्तु-सा उसको दीखा।
वह चकित मृगी-सी रह गई
आँखें फाड़ बड़ी बड़ी,
पर-कटी पक्षिणी व्योम को
देखे ज्यों भू पर पड़ी।

बड़ी देर तक खड़ी रही वह हिली न डोली,
फिर अचेत-सी अकस्मात चिल्ला कर बोली—
"है क्या कोई मुझे बचाओ, करो न देरी,
मै अबला हूँ आज लाज लुट जाय न मेरी !
ऊपर नीचे कोई सुनें
मेरी यही पुकार है—
जिसको सद्धर्म्म-विचार है
उस पर मेरा भार है।

हरे ! हरे ! गोविन्द, कृष्ण, तुम आज कहाँ हो ?
अथवा ऐसा ठौर कौन तुम नहीं जहाँ हो ?
रक्खी मेरी लाज तुम्हींने बीच सभा में,
हे अनन्त, पट तुम्हीं बने थे नीच-सभा में।
फिर आज विकट सङ्कट पड़ा
निकट पुकारूँ मै किसे ?
यह अश्रु-वारि ही अर्घ्य है
आओ अच्युत, लो इसे !"

भींगी कृष्णा इधर आँसुओं के पानी से,
कीचक ने यों कहा उधर जाकर रानी से—
"सैरन्ध्री-सी सखी कहाँ से तुमने पाई?
बहन, बताओ कि यह कौन है, कैसे आई?
देवी-सी दासी-रूप में
दीख रही यह भामिनी।
बन गई तुम्हारी सेविका
मेरे मन की स्वामिनी!"

सुन भाई की बात बहन ठिठकी, फिर बोली—
"ठहरो भैया, ठीक नहीं इस भाँति ठठोली।
भाभी हैं क्या यहाँ चिढ़े जो यह कहने से?
और मोद हो तुम्हें विनोद-विषय रहने से!
अपमान किसीका जो करे
वह विनोद भी है बुरा,
यह सुनकर ही होगी न क्या
सैरन्ध्री क्षोभातुरा!

मैं भी उसको पूर्ण रूप से नहीं जानती ,
एक विलक्षण बधू मात्र हूँ उसे मानती ।
सुनो, कहूँ कुछ हाल कि वह है कैसी नारी ?
उस दिन जब अवतीर्ण हुई संध्या सुकुमारी—
बैठी थी मैं विश्रान्ति से
सहचरियों के सङ्ग में ;
होता था वचन-विलास कुछ
हास्य-पूर्ण रस-रङ्ग में ।

वह सहसा आ खड़ी हुई मेरे प्राङ्गण में ,
जय-लक्ष्मी प्रत्यक्ष खड़ी हो जैसे रण में !
वेश मलिन था किन्तु रूप आवेश भरा था ,
था उद्देश अवश्य किन्तु आदेश भरा था ।
मुख शान्त दिनान्त समान ही ,
निष्प्रभ किन्तु पवित्र था ,
नभ के अस्फुट नक्षत्र-सा ,
हार्दिक भाव विचित्र था ।

मुझ पर आदर दिखा रही थी, पर निर्भय थी,
अनुनय उसमें न था, सहज ही वह सविनय थी।
नेत्र बड़े थे, किन्तु दृष्टि भी सूक्ष्म बड़ी ही,
सबके मन मे पैठ बैठ वह गई खड़ी ही !
वह हास्य बीच में ही रुका,
सन्नाटा-सा छा गया ;
मेरे गौरव में भी स्वयं
कुछ घाटा-सा आ गया !

मुद्रा वह गम्भीर देख सब रुकी, जकी-सी,
और दृष्टियाँ एक साथ सब झुकी, थकी-सी।
काले काले बाल कन्धरा ढके खुले थे,
गुँथे हुए-से व्याल मुक्ति के लिए तुले थे !
दृगपात न करती थी तनिक
सौध-विभव की ओर वह,
क्या कहूँ सौम्य या घोर थी
कोमल थी कि कठोर वह !

सहसा मैं उठ खड़ी हुई, उठ खड़ी हुईं सब ;
पर नीरव थी, भ्रान्त भाव में पड़ी हुईं सब ।
किया ससम्भ्रम प्रश्न अन्त में मैंने ऐसे—
'भद्रे, तुम हो कौन ? और आई हो कैसे ?'
उसके उत्तर के भाव का
लक्ष्य न जाने था कहाँ—
'मैं ? हाँ मैं अबला हूँ तथा
आश्रयार्थ आई यहाँ ।'

इस पर निकला यही वचन तब मेरे मुख से—
'अपना ही घर समझ यहाँ ठहरो तुम सुख से ।'
आश्रयार्थिनी नहीं असल मे अतिथि बनी वह ,
नहीं सेविका, किन्तु हुई मेरी स्वजनी वह ।
अनुचरियों को साहस नहीं
समझें उसे समान वे ;
रह सकती नहीं किये विना
उसका आदर मान वे ।

बहुधा अन्यमनस्क दिखाई पड़ती है यह ,
मानो नीरव आप आपसे लड़ती है वह !
करती करती काम अचानक रुक जाती है ,
करके ग्रीवा-भङ्ग झोक से झुक जाती है !
बस भर सँभाल कर चित्त को
श्रम से वह थकती नहीं ;
पर भूल करे तो भर्त्सना
मैं भी कर सकती नहीं ।

कार्य-कुशलता देख-देख उसकी विस्मय से ,
इच्छा होती है कि बड़ाई करे हृदय से ,
किन्तु दीर्घ निश्वास उसे लेते विलोक कर ,
रखना पड़ता मौन-भाव ही सहज शोक कर !
कुछ भेद पूछने से उसे
होता मन में खेद है ,
अति असन्तोष है पर उसे
याञ्चा से निर्वेद है ।

ऐसी ही दृढ़ जटिल चरित्रा है वह नारी,
दुखिया है, पर कौन कहे उसको बेचारी।
जब तब उसको देख भीति होती है मन में,
तो भी उस पर परम प्रीति होती है मन में।
अपना आदर मानों दया—
करके वह स्वीकारती,
पर दया करो तो वह स्वयं,
घृणा-भाव है धारती!

वृक्ष-भिन्न-सी लता तदपि उच्छिन्न नहीं वह,
मेरा सद्व्यवहार देख कर खिन्न नहीं वह।
जान सकी मैं यही बात उस गुण वाली की,
आली है वह विश्व-विदित उस पाञ्चाली की।
जो पञ्च पाण्डवों की प्रिया
प्रिय-समेत प्रच्छन्न है,
बस इसी लिए वह सुन्दरी
सम्प्रति व्यग्र विपन्न है।

किन्तु तुम्हें यह उचित नहीं जो उसको छेड़ो ,
बुन कर अपना शौर्य यशःपट यों न उधेड़ो ।
गुप्त पाप ही नहीं, प्रकट भय भी है इसमें ;
आत्म-पराजय मात्र नहीं, क्षय भी है इसमें ।
सब पाण्डव भी होंगे प्रकट ,
नहीं छिपेगा पाप भी ,
सहना होगा इस राज्य को
अबला का अभिशाप भी ।

सुन्दरियों का क्या अभाव है तुम्हें, बताओ ,
जो तुम होकर शूर उसे इस भाँति सताओ ।
जीत सके मन भी न वीर तुम कैसे फिर हो ?
कहलाते हो धीर और इतने अस्थिर हो !
हम अबलाएँ तो एक की ,
होकर रहती हैं सदा ।
तुम पुरुषों को सौ भी नहीं ,
होती हैं तृप्ति-प्रदा !"

"बहन, किसे यह सीख सिखाती हो तुम, मुझको ?
किसे धर्म का मार्ग दिखाती हो तुम, मुझको ?
व्यर्थ ! सर्वथा व्यर्थ ! सुनूँ देखूँ क्या अब मैं ?
सारी सुध-बुध उधर गँवा बैठा हूँ जब मैं ।
उस मृगनयनी की प्राप्ति ही,
है सुकीर्त्ति मेरी, सुनो ।
चाहो मेरा कल्याण तो,
कोई जाल तुम्हीं बुनो ।

सुन्दरियों का क्या अभाव है मुझे, नहीं है ;
प्राप्त वस्तु से किन्तु हुआ सन्तोष कहीं है ?
आग्रह तो अप्राप्त वस्तु का ही होता है,
हृदय उसीके लिए हाय ! हठ कर रोता है ।
उसके पाने में ही प्रकट,
होती है वर वीरता ।
सोचो, समझो, इस तत्त्व की
तनिक तुम्हीं गम्भीरता ॥"

वह कामी निर्लज्ज नीच कीचक यह कह कर
चला गया, मानों अधैर्य धारा में बह कर।
उसकी भगिनी खड़ी रही पाषाण-मूर्त्ति-सी ,—
भ्राता के भय और लाज की स्वयं पूर्त्ति-सी !
देखा को डगमग चाल वह
उसकी अपलक दृष्टि से ,—
जो भींग रही थी आप निज ,
घोर घृणा की वृष्टि से।

"राम राम ! यह वही बली मेरा भ्राता है ,
कहलाता जो एक राज्य भर का त्राता है !
जो अबला से आज अचानक हार रहा है ,
अपना गौरव, धर्म, कर्म, सब वार रहा है।
क्या पुरुषों के चारित्र्य का ,
यही हाल है लोक में ?
होता है पौरुष पुष्ट क्या ,
पशुता के ही ओक में ?

सुन्दरता यदि विधे, वासना उपजाती है,
तो कुल-ललना हाय! उसे फिर क्यों पाती है?
काम-रीति को प्रीति नाम नर देते हैं बस,
कीट-तृप्ति के लिए लूटते हैं प्रसून-रस।
यदि पुरुष जनों का प्रेम है
पावन नेम निबाहता,
तो कीचक मुझ-सा क्यों नहीं,
सैरन्ध्री को चाहता?

सैरन्ध्री यह बात श्रवण कर क्या न कहेगी?
वह मनस्विनी कभी मौन अपमान सहेगी?
घोर घृणा की दृष्टि मात्र वह जो डालेगी
मुझको विष में बुझी भाल-सी वह सालेगी!
ऐसे भाई की बहन मैं,
हूँगी कैसे सामने;
होते है शासन-नीति के
दोषी जैसे सामने।

किन्तु इधर भी नहीं दीखती है गति मुझको,
उभय ओर कर्तव्य कठिन है सम्प्रति मुझको।
विफलकाम यदि हुआ हठी कीचक कामातुर,
तो क्या जाने कौन मार्ग ले वह मदान्ध-उर।
राजा भी डरते हैं उसे
वह मन में किससे डरे?
क्या कह सकता है कौन, वह—
जो कुछ भी चाहे, करे।

इससे यह उत्पात शान्त हो तभी कुशल है,
विद्रोही विख्यात बली कीचक का बल है।
नहीं मानता कभी क्रूर वह कोई बाधा,
राज-सैन्य को युक्ति-युक्त है उसने साधा।
सैरन्ध्री सम्मत हो कहीं,
तो फिर भी सुविधा रहे।
पर मैं रानी दूती बनूँ,
इसे हृदय कैसे सहे?"

मन ही मन यह सोच सोच कर सभय सयानी ,
सैरन्ध्री से प्रेम सहित बोली तब रानी—
"इतने दिन हो गये यहाँ तुझको सखि, रहते ,
देखी गई न किन्तु स्वयं तू कुछ भी कहते ।
क्या तेरी इच्छा-पूर्त्ति को
पा न सकूँगी प्रीति मैं ?
विस्मित होती हूँ देख कर ,
तेरी निस्पृह नीति मै !"

सरन्ध्री उस समय चित्र-रचना करती थी ,
हाथ तुला था और तूलिका रँग भरती थी ।
देख पार्श्व से मोड़ महा ग्रीवा, कुछ तन कर ,
हँस बोली वह स्वयं एक सुन्दर छवि बन कर—
"मै क्या मागूँ जब आपने ,
यों ही सब कुछ है दिया ?
आज्ञानुसार वह दृश्य यह ,
लीजे, मैने लिख दिया ।"

"क्रिया-सहित तू वचन-विदग्धा भी है आली,
है तेरी प्रत्येक बात ही नई, निराली।"
यह कह रानी देख द्रौपदी को मुसकाई;
करने लगी सुचित्र देख कर पुनः बड़ाई।
"अङ्कित की है घटना विकट,
किस पटुता के साथ में,
सच बतला जादू कौन-सा
है तेरे इस हाथ में?"

कुछ पुलकित कुछ चकित और कुछ दर्शक शङ्कित,
नृप विराट युत एक ओर थे छवि में अङ्कित।
एक ओर थी स्वयं सुदेष्णा चित्रित अद्भुत—
बैठी हुई विशाल झरोखे में परिकर युत,
मैदान बीच में था जहाँ,
दो गज मत्त असीम थे;
उन दृढ़दन्तों के बीच में,
वल्लव रूपी भीम थे।

यही भीम-गज-युद्ध चित्र का मुख्य विषय था,
जय निश्चय के साथ साथ ही सबको भय था।
पार्श्वों से भुजदण्ड वीर के चिपट रहे थे,
उनमें युग कर-शुण्ड नाग-से लिपट रहे थे।
गज अपनी अपनी ओर थे
उन्हें खींचते कक्ष से,
पर खिंचे जा रहे थे स्वयं,
भीम-सङ्ग प्रत्यक्ष-से।

निकल रहा था वक्ष वीर का आगे तन कर;
पर्वत भी पिस जाय, अड़े जो बाधक बन कर।
दक्षिण-पद बढ़ चुका वाम अब बढ़ने को था,
गौरव-गिरि के उच्च शृङ्ग पर चढ़ने को था।
मद था नेत्रों में दर्प का,
मुख पर थी अरुणच्छटा,
निकला हो रवि ज्यों फोड़ कर,
युगल गजों की घन घटा।

रानी बोली—"धन्य तूलिका है सखि तेरी,
कला-कुशलता हुई आप ही आकर चेरी।
किन्तु आपको लिखा नहीं तूने क्यों इसमें ?
वल्लव की प्रत्यक्ष जयश्री रहती जिसमें ?
उस पर तेरा जो भाव है,
मैं उसको हूँ जानती,
हँसती है लज्जा-युक्त तू,
तो भी भौंहें तानती।

दोष जताने से न प्यार का रङ्ग छिपेगा,
सौ ढोंगों से भी न कभी वह ढङ्ग छिपेगा।
विजयी वल्लव लड़ा वन्य जीवों से जब जब—
सहमी सबसे अधिक अन्त तक तू ही तब तब।
फल देख युद्ध का अन्त में
बची साँस-सी ले अहा!
तेरे मुख का वह भाव है,
मेरे मन में बस रहा।

कह तो लिख दूँ उसे अभी इस चित्र-फलक पर !
बात नहीं जो मुकर सके तू किसी झलक पर ।
कह तो आँखें लिखूँ नहीं जो यह सह सकती ,
न तो देख सकती न विना देखे रह सकती ।
या लिखूँ कनौखी दृष्टि वह ,
विजयी वल्लव पर पड़ी ?
नीचे मुख की मुसकान में
मुग्ध हृदय की हड़बड़ी !

वल्लव फिर भी सूपकार, साधारण जन है ,—
और उच्च पद-योग्य धन्य यह यौवन-धन है ।"
कृष्णा बोली—"देवि, आप कुछ कहें भले ही ,
मुझको संशय-योग्य समझती रहें भले ही ।
पर करती नहीं कदापि हूँ ,
कोई अनुचित कर्म मैं ,
दासी होकर भी आपकी ,
रखती हूँ निज धर्म मैं ।

लड़ता है नर एक क्रूर पशुओं से डट कर,
कौतुक हम सब लोग देखते है हट हट कर।
उस पर तदपि सहानुभूति भी उदित न हो क्या ?
और उसे फिर जयी देख मन मुदित न हो क्या ?
यदि इतने से ही मै हुई,
संशय योग्य कुघोष से,
तो क्षमा कीजिए आप भी—
बचेंगी न इस दोष से।

पद से ही मैं किन्तु मानती नहीं महत्ता,
चाहे जितनी क्यों न रहे फिर उसमें सत्ता।
स्थिति से नहीं, महत्व गुणों से ही बढ़ता है;
यो मयूर से गीध अधिक ऊँचे चढ़ता है।
वल्लव-सम वीर वलिष्ठ का,
पक्षपात किसको न हो,
क्या प्रीति नाम में ही प्रकट
काम वासना है अहो !"

रानी ने हँस कहा—"दोष क्या तेरा इसमें ?
रहती नहीं अपूर्व गुणों की श्रद्धा किसमें ?
स्वाभाविक है काम-वासना भी हम सबको ,
और नहीं तो सृष्टि नष्ट हो जाती कब की ?
मेरा आशय था बस यही—
तू उस जन के योग्य है ,
अच्छी से अच्छी वस्तु इस—
भव की जिसको भोग्य है ।

रहने दे इस समय किन्तु यह चर्चा, जा तू ,
कीचक को यह चारु चित्र जाकर दे आ तू ।
भाई के ही लिए इसे मैंने बनवाया ,
बल्लव का यह युद्ध बहुत था उसको भाया ।
मेरा भाई भी है बड़ा ,
वीर और विश्रुत बली ,
ऐसे कामों में ही सदा ,
खिलती है उसकी कली ।"

त्योरी तत्क्षण बदल गई कृष्णा की सहसा,
रानी का यह कथन हुआ उसको दुस्सह-सा।
पालक का जी पली सारिका यथा जला दे,
हाथ फेरते समय अचानक चोंच चला दे!
वह बोली—"क्या यह भूमिका,
इसी लिए थी आपकी?
यह बात 'महत्पद' के लिए
है कितने परिताप की?"

कहा सुदेष्णा ने कि—"अरे तू क्या कहती है?
अपने को भी आप सदा भूली रहती है।
करती हूँ सम्मान सदा स्वजनी-सम तेरा,
तू उलटा अपमान आज करती है मेरा!
क्या मैंने आश्रय था दिया,
इसी लिए तुझको, बता—
तू कौन और मैं कौन हूँ,
इसका भी कुछ है पता।"

रानी के आत्माभिमान ने धक्का खाया,
सैरन्ध्री को भी न कार्य्य अपना यह भाया।
"क्षमा कीजिए देवि, आप महिषी मैं दासी,
कीचक के प्रति न था हृदय मेरा विश्वासी।
इसलिए न आपे में रही,
सुन कर उसकी बात मैं,
सहती हूँ लज्जा-युक्त हा!
उसके वचनाघात मैं।

होकर उच्च पदस्थ नीच-पथ-गामी है वह,
पाप-दृष्टि से मुझे देखता,—कामी है वह।
नर होकर भी हाय! सताता है नारी को,
अनाचार क्या कभी उचित है बलधारी को?
यों तो पशु महिष वराह भी,
रखते साहस सत्व हैं,
होते परन्तु कुछ और ही,
मनुष्यत्व के तत्व हैं।

मुझे न उसके पास भेजिए, यही विनय है ,
क्योंकि धर्म्म के लिए वहाँ जाने में भय है ।
रखिए अबला-रत्न, आप अबला की लज्जा ,
सुन मेरा अभियोग कीजिए शासन-सज्जा ।
हा ! मुझे प्रलोभन ही नहीं ,
कीचक ने भय भी दिया ,
मर्यादा तोड़ी धर्म्म की ,
और असंयम भी किया ।"

रानी कहने लगी—"शान्त हो, सुन सैरन्ध्री ,
अपनी धुन में भूल न जा, कुछ गुन सैरन्ध्री !
भाई पर तो दोष लगाती है तू ऐसे ;
पर मेरा आदेश भङ्ग करती है कैसे ?
क्या जाने से ही तू वहाँ ,
फिर आने पाती नहीं ?
होती है बातें प्रेम की ,
सफल भला बल से कहीं !

तू जिसकी यों बार बार कर रही बुराई ,
भूल न जा, वह शक्ति-शील है मेरा भाई ।
करता है वह प्यार तुझे तो यह तो तेरा—
गौरव ही है, यही अटल निश्चय है मेरा ।
तू है ऐसी गुण-शालिनी ,
जो देखे मोहे वही ,
फिर इसमें उसका दोष क्या ,
चिन्तनीय है बस यही ।

तू सनाथिनी हो कि न हो उस नर पुङ्गव से ,
उदासीन ही रहे क्यों न वैभव से, भव से ।
पर तू चाहे लाख गालियाँ दीजो मुझको ,
मैं भाभी ही कहा करूँगी अब से तुझको !
जा, दे आ अब यह चित्र तू
जाकर अपनी चाल से ।"
हो गई मूढ़-सी द्रौपदी ,
इस विचित्र वाग्जाल से ।

बोली फिर—"आदेश आपका शिरोधार्य है,
होने को अनिवार्य किन्तु कुछ अशुभ कार्य है!
पापी जन का पाप उसीका भक्षक होगा,
मेरा तो ध्रुव-धर्म सहायक, रक्षक होगा।"
चलते चलते उसने कहा,
नभ की ओर निहार के—
"दृष्टा हो दिन कर देव, तुम,
मेरे शुद्धाचार के।"

ठोका उसने मध्य मार्ग में आकर माथा—
"रानी करने चली आज है मुझे सनाथा!
विश्वनाथ हैं तो अनाथ हम किसको मानें?
मै अनाथ हूँ या सनाथ, कोई क्या जानें?
मुझको सनाथ करके स्वयं,
पाँच बार संसार में,
हे विधे, बहाता है बता,
अब तू क्यो मँझधार में?

हठ कर मेरी ननद चाहती है वह होना,
आवे इस पर हँसी मुझे या आवे रोना ?
पहले मेरी ननद दुःशला ही तो हो ले ?
बन जाते हैं कुटिल वचन भी कैसे भोले !
मैं कौन और वह कौन है,
मै यह भी हूँ जानती।"
कर आप अधर दंशन चली
कृष्णा भोंहें तानती।

"आ, विपत्ति, आ, तुझे नहीं डरती हूँ अब मैं,
देखूँ बढ़ कर आप कि क्या करती हूँ अब मैं।
भय क्या है, भगवान भाव ही मे है मेरा,
निश्चय, निश्चय जिये हृदय, दृढ़-निश्चय तेरा।
मै अबला हूँ तो क्या हुआ ?
अबलों का बल राम है,
कर्मानुसार भी अन्त में
शुभ सबका परिणाम है।"

सैरन्ध्री को देख सहज अपने घर आया ,
कीचक ने आकाश-शशी भूपर-सा पाया ।
स्वागत कर वह उसे बिठाने लगा प्रणय से ,
किन्तु खड़ी ही रही काँप कर कृष्णा भय से ॥
चुपचाप चित्र देकर उसे
ज्यों ही वह चलने लगी ,
त्यों ही कीचक की कामना
उसको यों छलने लगी—

"सुमुखि, सुन्दरी मात्र तुझे मैं समझ रहा था ,
पर तू इतनी कुशल ! बहन ने ठीक कहा था ।
इस रचना पर भला तुझे क्या पुरस्कार दूँ ?
तुझ पर निज सर्वस्व बोल मैं अभी वार दूँ !"
बोली कृष्णा मुख नत किये—
"क्षमा कीजिए बस मुझे ;
कुछ, पुरस्कार के काम में ,
नहीं दीखता रस मुझे ।

रचना के ही लिए हुआ करती है रचना।"
कृष्णा चुप हो गई, कठिन था तब भी बचना।
बोला खल—"पर दिखा चुका जो ललित कला यह,
क्या चूमा भी जाय कुशलता-कर न भला वह ?
सैरन्ध्री, कहूँ विशेष क्या,
तू ही मेरी सम्पदा;
मेरे वश में है राज्य यह,
मैं तेरे वश में सदा।

हे अनुपम आनन्द-मूर्ति, कृशतनु, सुकुमारी,
बलिहारी यह रुचिर रूप की राशि तुम्हारी !
क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बन कर चेरी,
सुध-बुध जाती रही देख कर तुमको मेरी।
इन दृग्बाणों से विद्ध यह
मन मेरा जब से हुआ,
है खान-पान-शयनादि सब
विष समान तब से हुआ।

अब हे रमणी-रत्न, दया कर इधर निहारो,
मेरी ऐसी प्रीति नहीं कि प्रतीति न धारो।
मैं तो हूँ अनुरक्त, तनिक तुम भी अनुरागो,
रानी होकर रहो, वेश दासी का त्यागो।
होती है यद्यपि खान में
किन्तु नहीं रहती पड़ी;
मणि, राज-मुकुट में ही प्रिये,
जाती है आखिर जड़ी।"

"अहो वीर बलवान, विषम विष की धारा-से,
बोलो ऐसी बात न तुम मुझ पर-दारा से।
तुम जैसे ही बली कहीं अनरीति करेंगे,
तो क्या दुर्बल जीव धर्म का ध्यान धरेंगे?
नर होकर इन्द्रिय-वश अहो!
करते कितने पाप हैं;
निज अहित-हेतु अविवेकि जन
होते अपने आप हैं।

राजोचित सुख-भोग तुम्हींको हों सुख-दाता ,
कर्मों के अनुसार जोव जग में फल पाता ।
रानी ही यदि किया चाहता मुझको धाता ,
तो दासी किसलिए प्रथम ही मुझे बनाता ।
निज धर्म-सहित रहना भला ,
सेवक बन कर भो सदा ;
यदि मिले पाप से राज्य भी ,
त्याज्य समझिए सर्वदा ।

इस कारण हे वोर, न तुम यों मुझे निहारो ,
फणि-मणि पर निज कर न पसारो, मन को मारो ।
प्रेम करूँ मैं बन्धु, मुझे तुम बहन विचारो ,—
पाप-गर्त्त से बचो, पुण्य-पथ पर पद धारो ।
अपने इस अनुचित कर्म के
लिए करो अनुताप तुम ;
मत लो मस्तक पर वज्र-सम
सती-धर्म का शाप तुम ।"

कृष्णा ने इस भाँति उसे यद्यपि समझाया,
किन्तु एक भी वचन न उसके मन को भाया।
मद-मत्तों को यथा-योग्य उपदेश सुनाना,
है ऊषर में यथा वृथा पानी बरसाना।
कर सकते हैं जो जन नहीं
मनोदमन अपना कभी,
उनके समक्ष शिक्षा-कथन
निष्फल होता है सभी।

"रहने दो यह ज्ञान, ध्यान, ग्रन्थों की बातें !
फिर फिर आती नहीं सुयौवन की दिन-रातें।
करिए सुख से वही काम, जो हो मनमाना,
क्या होगा मरणोपरान्त, किसने यह जाना ?
जो भावी की आशा किये
वर्तमान सुख छोड़ते,
वे मानों अपने आप ही
निज-हित से मुहँ मोड़ते।"

कह कर ऐसे वचन वेग से बिना विचारे,
आतुर हो अत्यन्त, देह की दशा विसारे।
सहसा उसने पकड़ लिया कर पाञ्चाली का,
मानों किसलय-गुच्छ नाग ने नत डाली का!
कीचक की ऐसी नीचता
देख सती क्षोभित हुई,
कर चक्षु चपल-गति से चकित
शम्पा-सी शोभित हुई।

जो सकम्प तनु-यष्टि झूलती रज्जु सदृश थी,
शिथिल हुई निर्जीव दीख पड़ती अति कृश थी,
आहा! अब हो उठी अचानक वह हुङ्कारित;
ताव-पेंच खा बनी कालफणिनी फुङ्कारित।
भ्रम न था रज्जु में सर्प का
उपमा पूरी घट गई,
कीचक के नीचे की धरा
मानो सहसा हट गई।

"अरे नराधम, तुझे नहीं लज्जा आती है ?
निश्चय तेरी मृत्यु मुण्ड पर मँडराती है।
मैं अबला हूँ किन्तु न अत्याचार सहूँगी,
तुझ दानव के लिए चण्डिका बनी रहूँगी।
मत समझ मुझे तू शशि-सुधा
खल, निज कल्मष-राहु को;
मैं सिद्ध करूँगी पाशता
अपने वामा-बाहु की।

होता है यदि पुलक हमारी गल-बाहों में;—
तो कालानल नित्य निकलता है आहों में!"
यों कह कर झट हाथ छुड़ाने को उस खल से,
तत्क्षण उसने दिया एक झटका अति बल से।
तब सहसा मुँह के बल वहाँ
मदोन्मत्त वह गिर पड़ा,
मानों झंझा के वेग से
पतित हुआ पादप बड़ा।

तब विराट की न्याय-सभा की नींव हिलाने,
उस कामी को कुटिल-कर्म का दण्ड दिलाने,
कच-कुच और नितम्ब-भार से खेदित होती,
गई किसी विध शीघ्र द्रौपदी रोती रोती।
पीछे से उसको मारने
उठ कर कीचक भी चला;
उस अबला द्वारा भूमि पर
गिरना उस खल को खला।

कृष्णा पर कर कोप शीघ्र झपटा वह ऐसे—
थकी मृगी की ओर तेंदुआ लपके जैसे।
भरी सभा में लात उसे उस खल ने मारी,
छिन्न लता-सी गिरी भूमि पर वह बेचारी।
पर सँभला कीचक भी नहीं
निज बल-वेग विशेष से;
फिर मुँह की खाकर गिर पड़ा
दुगुने विगलित वेष से।

धर्म्मराज भी कङ्क बने थे वहाँ विराजे ;
लगा वज्र-सा उन्हें मौलि पर घन-से गाजे ।
सँभले फिर भी किसी तरह वे 'हरे, हरे', कह ,
हुए स्तब्ध-से सभी सभासद 'अरे, अरे,' कह !
करके न किन्तु दृक्पात तक
कीचक उठा, चला गया ;
मानों विराट ने चित्त में
यही कहा कि 'भला गया' !

सम्बोधन कर सभा-मध्य तब मत्स्यराज को ,
बोली कृष्णा कुपित, सुना कर सब समाज को ।
मधुर कण्ठ से क्रोध-पूर्ण कहती कटु वाणी ,
अद्भुत छवि को प्राप्त हुई तब वह कल्याणी ।
ध्वनि यद्यपि थी आवेग-मय ,
पर वह कर्कश थी नहीं ,
मानो उसने बातें सभी
वीणा में होकर कहीं ।

"भय पाती है जहाँ राजगृह में ही नारी,
होता अत्याचार यथा उस पर है भारी।
सब प्रकार विपरीत जहाँ की रीति निहारी,
अधिकारी ही जहाँ आप है अत्याचारी।
लज्जा रहनी अति कठिन है
कुल-बधुओं की भी जहाँ,
हे मत्स्यराज, किस भाँति तुम
हुए प्रजा-रञ्जक वहाँ?

छोड़ धर्म की रीति, तोड़ मर्यादा सारी,
भरी सभा में लात मुझे कीचक ने मारी।
उसका यह अन्याय देख कर भी भय-दायी,
न्यायासन पर रहे मौन तुम बन कर न्यायी,
हे वयोवृद्ध नरनाथ क्या,
यही तुम्हारा धर्म है?
क्या यही तुम्हारे राज्य की
राजनीति का मर्म है?

तुम में यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का,
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का ?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो छू कर क्यों राज-दण्ड दूषित करते हो !
तुमसे निज पद का स्वाँग भी ;
भली भाँति चलता नहीं ;
अधिकार-रहित इस छत्र का
भार तुम्हें खलता नहीं ?

प्राणसखी जो पञ्च पाण्डवों की पाञ्चाली,
दासी भी मैं उसी द्रौपदी की हूँ आली।
हाय ! आज दुर्दैव-विवश फिरती हूँ मारी,
वचन-बद्ध हो रहे वीरवर वे व्रत-धारी।
करता प्रहार उन पर न यों
दुर्विधि यदि कर्कश कशा,
तो क्यों होती मेरी यहाँ
इस प्रकार यह दुर्दशा ?

अहो ! दयामय धर्मराज, तुम आज कहाँ हो ?
पाण्डु-वंश के कल्पवृक्ष नरराज, कहाँ हो ?
बिना तुम्हारे आज यहाँ अनुचरी तुम्हारी ,
होकर यों असहाय भोगती है दुख भारी ।
तुम सर्वगुणों के शरण यदि
विद्यमान होते यहाँ ,
तो इस दासी पर देव, क्यों
पड़ती यह विपदा महा ?

तुम-से प्रभु की कृपा-पात्र होकर भी दासी ,
मैं अनाथिनी-सदृश यहाँ जाती हूँ त्रासी !
जब अजातरिपु, बात याद मुझको यह आती ,
छाती फटती हाय ! दुःख दूना मैं पाती ।
करदी है जिसने लोप-सी
नाग-भुजङ्गों की कथा ,
हा ! रहते उस गाण्डीव के
हो मुझको ऐसी व्यथा !

जिस प्रकार है मुझे यहाँ कीचक ने घेरा,
होता यदि वृत्तान्त विदित तुमको यह मेरा।
तो क्या दुर्जन, दुष्ट, दुराचारी यह कामी,
जीवित रहता कभी तुम्हारे कर से स्वामी !
तुम इस अधर्म-अन्याय को
देख नहीं सकते कभी ;
हे वीर ! तुम्हारी नीति की
उपमा देते हैं सभी।

क्रूर दैव ने दूर कर दिया तुमसे जिसको,
सङ्कट मुझको छोड़ और पड़ता यह किसको ?
यह सब है दुरदृष्ट-योग, इसका क्या कहना ?
मेरा अपने लिए नहीं कुछ अधिक उलहना।
पर जो मेरे अपमान से
तुम सबका अपमान है।
हे कृतलक्षण, मुझको यही
चिन्ता महा महान है !"

सुन कर निर्भय वचन याज्ञसेनी के ऐसे,
वैसी ही रह गई सभा, चित्रित हो जैसे।
कही हुई सावेग गिरा उसकी विशुद्ध वर,
एक साथ ही गूँज गई उस समय वहाँ पर।
तब ज्यों त्यों करके शीघ्र ही
अपने मन को रोक के,
यों धर्मराज कहने लगे
उसकी ओर विलोक के,—

"हे सैरन्ध्री, व्यग्र न हो तुम, धीरज धारो,
नरपति के प्रति वचन न यों निष्ठुर उच्चारो।
न्याय मिलेगा तुम्हें, शीघ्र महलों में जाओ,
नृप हैं अश्रुतवृत्त, न उनको दोष लगाओ।
शर-शक्ति पाण्डवों की किसे
ज्ञात नहीं संसार में?
पर चलता है किसका कहो,
वश विधि के व्यापार में?"

धर्मराज का मर्म समझ कर नत मुख वाली,
अन्तःपुर को चली गई तत्क्षण पाञ्चाली।
किन्तु न तो वह गई किसीके पास वहाँ पर,
और न उसके पास आ सका कोई डर कर।
वह रही अकेली भींगती
दीर्घ-दृगों के मेह में,
जब हुई नैश निस्तब्धता
गई भीम के गेह में।

बन्द किये भी नेत्र वृकोदर जाग रहे थे;
पड़े पड़े निःश्वास बड़े,वे त्याग रहे थे।
राह उसीकी देख रहे थे धीरज खोकर,
वे भी सारा हाल सुन चुके थे हत होकर।
हो गई अधीरा और भी
उन्हें देख कर द्रौपदी;
हिम-राशि पिघल रवि-तेज से
बढ़ा ले चले ज्यों नदी।

"जागो, जागो अहो ? भूल सुध, सोने वाले !
ओ अपना सर्वस्व आप ही खोने वाले !"
उठ बैठे झट भीम उन्होंने लोचन खोले,
और—"देवि, मै जाग रहा हूँ" वे यों बोले।
"जब तक तुम हो सर्वस्व भी
अपना अपने सङ्ग है,
सो नहीं रहा था मै प्रिये,
निद्रा तो चिर भङ्ग है।"

"मैं तो ऐसा नहीं समझती" कृष्णा बोली—
"करो सजगता की न नाथ, तुम और ठठोली !
आज आत्म-सम्मान तुम्हारा जाग रहा क्या ?
अब भी तन्द्रा शौर्य्य-वीर्य वह त्याग रहा क्या !
आघात हुए इतने तदपि
नहीं हुआ प्रतिघात कुछ,
आती है मेरी समझ में
नहीं तुम्हारी बात कुछ !

भोगा सब निज धर्म-भीरुता पर मर जी कर,
कोसूँ फिर क्यों उसे न मैं पानी पी पी कर !
गिना चलूँ मैं कहाँ सहा है मैंने जो जो,
सिद्ध करूँ सब सत्य, कहा है मैंने जो जो।
सहने को अत्याचार को
बाध्य करे, वह धर्म है,
तो इस निर्मम संसार में
और कौन दुष्कर्म है ?

भोजन में विष दिया जिन्होंने और जलाया,
राज-पाट सब लूट-लाट वन-पथ दिखलाया।
माथा ऊँचा किये रहें वे, छिपे फिरें हम,
राज्य करें वे, दास्य-गर्त्त में हाय गिरें हम।
फिर भी कहते हो तुम कि मैं
जगता हूँ, सोता नहीं,
अच्छा होता हे नाथ, तुम
सोते ही होते कहीं !

कहते हो सर्वस्व मुझे तुम मै जब तक हूँ ,
रहने दो यह वचन-वञ्चना, मै कब तक हूँ ?
नंगी की जा चुकी प्रथम ही राज-भवन में ,
हरी जा चुकी हाय ! जयद्रथ से फिर वन में !
अब कामी कीचक की यहाँ
गृध्र-दृष्टि मुझ पर पड़ी ,
सहती हूँ मृत्यु बिना अहो
ये विडम्बनाएँ बड़ी ?

जिसके पति हों पाँच पाँच ऐसे बलशाली ,
सुरपुर में भी करे कीर्ति जिनकी उजयाली ।
काली हो अरि-कान्ति देख कर जिनकी लाली ,
सहूँ लाञ्छना प्रिया उन्हींकी मै पाञ्चाली ?”
कहती कहती यों द्रौपदी
रह न सकी मानों खड़ी ,
मूर्च्छित होकर वह भीम के
चरण-शरण में गिर पड़ी ।

"धिक है हमको हाय ! सहो तुम ऐसी ज्वाला,"
कहते कहते उसे भीम ने शीघ्र सँभाला।
दीखी वह यों अतुल अङ्क-आश्रय पा पति का—
विटप-काण्ड पर पड़ी ग्रीष्म-दग्धा ज्यों लतिका।
"जागो, जागो प्राणप्रिये,
बतलाओ मैं क्या करूँ?
यदि न करूँ तो संसार के
सभी पाप सिर पर धरूँ।"

जल-सिञ्चन कर, और व्यजन कर, हाथ फेर कर,
किया भीम ने सजग उसे कुछ भी न देर कर।
फिर आश्वासन दिया और विश्वास दिलाया,
वचनामृत से सींच सींच हत हृदय जिलाया।
प्रण किया उन्होंने अन्त में
कीचक के संहार का,
फिर दोनों ने निश्चय किया
साधन सहज प्रकार का।

पर दिन कृष्णा सहज भाव से दीख पड़ी यों,
घटना कोई वहाँ घटी ही न हो बड़ी ज्यों।
कीचक से भी हुई सहज ही देखा देखी,
मानों ऐसी सन्धि ठीक ही उसने लेखी।
"सैरन्ध्री" कीचक ने कहा—
"अब तो तेरा भ्रम गया?
मेरे विरुद्ध देखा न सब
निष्फल तेरा श्रम गया?

अब भी मेरा कहा मान हठ छोड़ हठीली,
प्रकृति भली है सरल और तनु-यष्टि गठीली!"
सुन कर उसकी बात द्रौपदी कुछ मुसकाई,
मन में घृणा, परन्तु वदन पर लज्जा लाई।
कीचक ने समझा अरुणिमा
आई है अनुराग की,
मुँह पर मल दी है प्रकृति ने
मानो रोली फाग की!

बोली वह—"हे वीर, मनुज का मन चञ्चल है,
किन्तु सत्य है स्वल्प, अधिक कौशल या छल है।
प्रत्यय रखती नहीं इसीसे मेरी मति भी,
भूल गये हैं मुझे अचानक मेरे पति भी!
अब तुम्हीं कहो, विश्वास मैं
रक्खूँ किसकी बात पर?
अन्धेरे में एकाकिनी
रोती हूँ बस रात भर।

रहता कोई नहीं बात तक करने वाला,
तिस पर शयन-स्थान मिला है मुझे निराला।
कहाँ उत्तरा की सुदीर्घ तौर्यत्रिक शाला,
उसका वह विश्रान्ति-वास दक्षिण दिशि वाला।
कोई क्या जाने काटती
कैसे उसमें रात मैं?
पागल-सी रहती हूँ पड़ी
सह कर शोकाघात मैं।"

कीचक बोला—"अहा ! आज मैं आ जाऊँगा ,
प्रत्यय देकर तुझे प्रेयसी, पा जाऊँगा ।"
"अन्धेरे में कष्ट न होगा ?" कह कर कृष्णा ,
मन्दहास में छिपा ले गई विषम वितृष्णा !
"रौरव में भी तेरे लिए
जा सकता हूँ हर्ष से ।"
यह कह कर कीचक भी गया
मानो विजयोत्कर्ष से ।

यथा समय फिर यथा स्थान वह उन्मद आया ,
सैरन्ध्री की जगह भीम को उसने पाया ।
पर वह समझा यही कि बस यह वही पड़ी है !
बड़े भाग्य से मिली आज यह नई घड़ी है !
झट लिपट गया वह भीम से
चपल चित्त के चाव में ,
आ जाय वन्य पशु आप खिच
ज्यो अजगर के दाव में ।

पल में खल पिस उठा भीम के आलिङ्गन से,
दाँत पीस कर लगे दबाने वे घन घन से !
चिल्लाता क्या शब्द-सन्धि थी किधर गले की ?
आ जा सकी न साँस उधर से इधर गले की !
मुख, नयन, श्रवण, नासादि से
शोणितोत्स निर्गत हुआ,
बस हाड़ों की चड़ मड़ हुई
यों वह उद्धत हत हुआ !

लेता है यम प्राण, बोलता है कब शव से ?
पटक पिण्ड-सा उसे भीम बोले नव रव से—
"याज्ञसेनि, आ, देख यही था वह उत्पाती ?
किन्तु चूर हो गई आह ! मेरी भी छाती !"
हँस बोले फिर वे—"बस प्रिये,
छोड़ मान की टेक दे,
आकर अपनी हृदयाग्नि से
अब तू मुझको सेक दे !"

देख भीम का भीम कर्म भीमाकृति भारी ,
स्वयं द्रौपदी सहम गई भय-वश बेचारी ।
कीचक के भी लिए खेद उसको हो आया ,
कहाँ जाय वह सदय हृदय की ममता-माया ?
हो चाहे जैसा ही प्रबल
यह अति निश्चित नीति है ,
मारा जाता है शीघ्र ही
करता जो अनरीति है ।

—

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित काव्य।

साकेत

यह अनूठा महाकाव्य कवि की आजीवन साधना क
फल है । भाव, भाषा, माधुर्य, ओज और विषय सब
दृष्टियों से यह अभूतपूर्व है । इस काव्य से हिन्दी भाषा क
मस्तक ऊँचा हुआ है । भारतीय संस्कृति का जैसा उज्व
आदर्श इसमें उपस्थित किया गया है वैसा दूसरी जग
मिलना कठिन है । ऐसे महत्व पूर्ण ग्रन्थ शताब्दियों
एक आध ही लिखे जाते है । आलोचकों ने इसे अभिन
रामचरितमानस कह कर सम्मानित किया है । मोटे ॰ण्टि
कागज पर सुन्दरतापूर्वक मुद्रित । पृष्ठ संख्या ४५०
तृतीयावृत्ति । मूल्य ३)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

गुप्तजी के अन्य ग्रन्थ—

यशोधरा	१॥)	
द्वापर	१॥)	
सिद्धराज	१।)	
गुरुकुल	२)	
हिन्दू	१)	१।)
विकट-भट	=)	
त्रिपथगा	१॥)	
अनघ	।॥)	
जयद्रथ-वध	॥)	१)
किसान	।=)	
पञ्चवटी	।=)	
शकुन्तला	।=)	
स्वदेश-सङ्गीत	।॥)	
चन्द्रहास	।॥)	
तिलोत्तमा	॥)	
मंगल-घट	२)	

प्रबन्धक—
साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ।

आर्द्रा	(कविता)	१)
विषाद	,,	|-)
मौर्य्य-विजय	,,	|)
दूर्वा-दल	,,	||=)
अनाथ	,,	|)
बापू	,,	||)
मृण्मयी	,,	१|)
पाथेय	,,	१)
आत्मोत्सर्ग	,,	|=)
पुण्य-पर्व	(नाटक)	|||)
मानुषी	(कहानी संग्रह)	१)
गोद	(उपन्यास)	१|)
अन्तिम आकांक्षा	,,	१||)
नारी	,,	१||)

प्रबन्धक—
साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

अन्यान्य ग्रन्थ।